

भारतीय कवि



बसन्त के एकान्त ज़िले में

सच्चिदानन्द राउतराय

वर्ष 1986 के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित शीर्षस्थ उड़िया साहित्यकार डॉ० सच्चिदानन्द राउतराय उड़िया साहित्य में काव्य-मुक्ति के अग्रदूत माने जाते हैं। अपने कविता-संग्रहों 'पाथेय' और 'पाण्डुलिपि' द्वारा उन्होंने उड़िया साहित्य पर नवयुग और नयी कविता के द्वार खोल दिये। उनके ऐतिहासिक महत्त्व के कालजयी कविता-संग्रह 'कविताः 1962 में इस नयी प्रवृत्ति को और भी स्पष्ट और मूर्त रूप मिला।

बिम्ब योजना में पारंगत सची राउतराय वर्ण, ध्वनि तथा आकृतियों पर आधारित भांति-भांति के बिम्बों का प्रयोग करते रहे हैं। प्रारम्भ से ही उन्होंने मुक्त छन्द का विकास किया जो निर्बाध तथा लचीला है। उनकी मान्यता है कि कविता को समस्त अलंकरण तथा संगीत-प्रलोभनों का त्याग कर मात्र कविता, विशुद्ध कविता के रूप में ही अपनी नैसर्गिक गरिमा द्वारा पाठक के मन-मस्तिष्क पर छा जाना चाहिए। युवा पीढ़ी के कवियों पर उनकी काव्य-भंगिमा का गहरा प्रभाव पड़ा है। उनका काव्य-संसार पदार्थ से लेकर आत्मा तक फैला है। उनकी कविता एक क्षयी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध मानव-अधिकारों का एक आक्रोशी घोषणा-पत्र है :

मैं श्रमिकों का कवि खड़ा हूँ
लिये हाथ में क़लम हथियार की तरह
स्वप्न देखता उस दिन का
जब मनुष्य लौटेगा बलिवेदी से
जागेगा स्वतंत्रता की भोर में
और एक नया लाल सूरज
तथा मेरे कवि की क़लम
करेंगे हस्ताक्षर
मनुष्य-मनुष्य के लिए के अधिकार-पत्र पर।

सची राउतराय के इस संकलन के दूसरे संस्करण का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ के लिए अत्यन्त गौरव की बात है।

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित साहित्य

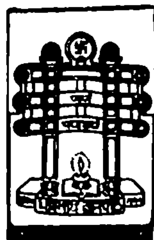
वसन्त के एकान्त जिले में

(काव्य-संकलन)

उड़िया मूल
सच्चिदानन्द राउतराय

अनुवाद
राजेन्द्र प्रसाद मिश्र

सहयोग
अजित कुमार



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

राष्ट्र भारती
लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रंथांक : 462
पहला संस्करण : 1988
दूसरा संस्करण : 1990

बसन्त के एकान्त ज़िले में

(काव्य-संकलन)

सच्चिदानन्द राउतराय

मूल्य : 55.00

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इंस्टीट्यूशनल एरिया,
लोदी रोड, नई दिल्ली- 110 003

मुद्रक
शकुन प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली- 110 032

आवरण-शिल्पी : पुष्पकणा मुखर्जी

BASANT KE EKANT ZILE MAIN (Poetry) by Satchidananda Rautroy. Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003. Printed at Shakun Printers, Naveen Shahdara, Delhi-110032
Second Edition : 1990 Price : Rs. 55.00

भूमिका

सची राउतराय 1947 के आसपास निनादित होने वाले आधुनिक कविता के वाद्यवृन्द के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्वर हैं। लगभग छह दशकों से वह कविता, कहानियाँ और साहित्यिक आलोचनाएँ अविराम लिखते आ रहे हैं। उन्होंने एक साहित्यिक पत्रिका का सम्पादन भी किया है और साहित्यिक संस्थाओं में भी वह सक्रिय रहे हैं। उन्होंने रोमानी कविताएँ लिखी हैं और प्रगतिशील भी, साथ ही उन्होंने विचारों और भावों को व्यवस्थित करने की दुर्लभ क्षमता प्रदर्शित करने वाली कतिपय उत्कृष्ट अधिमानसिक कविताएँ भी रची हैं। इस प्रकार उनकी कविता चार दशकों की आधुनिक उड़िया कविता में फैली हुई है और वह इसके महत्त्वपूर्ण तथा प्रवर्तक स्वरों में से रहे हैं।

शुरू-शुरू में सची राउतराय पर जिन साहित्यकारों का प्रभाव पड़ा उनमें मायकोव्स्की प्रमुख हैं। अपनी एक प्रारम्भिक कविता में उन्होंने दावा भी किया है कि 'न तो वह टैगोर हैं और न शैले।' "जब आप मेरी पुस्तक का स्पर्श करते हैं, आप मनुष्य के हृदय को स्पर्श करते हैं।" अपनी 'अभिजान' नामक एक कविता में उन्होंने लिखा है—

> मैं श्रमिकों का कवि खड़ा हूँ
> लिये हाथ में क़लम हथियार की तरह
> स्वप्न देखता उस दिन का
> जब मनुष्य लौटेगा बलि-वेदी से
> जागेगा स्वतन्त्रता की भोर में
> और एक नया लाल सूरज
> तथा मेरे कवि की क़लम
> करेगी हस्ताक्षर—
> 'मनुष्य मनुष्य के लिए' के अधिकार-पत्र पर।

1947 में सची राउतराय का काव्य-संकलन 'पाण्डुलिपि' प्रकाश में आया। तब तक राधानाथ के समय से लेकर उड़िया-काव्य के मुख्य

पक्ष ऐतिहासिक व इतिवृत्तात्मक और रोमानी तथा भावुकतामय थे। कहीं-कहीं क्रान्तिकारिता भी थी किन्तु वह भी रोमानी परम्परा के एक अंग के रूप में। सरोला, बलराम, जगन्नाथ की ठोस क्लासिकी विशिष्टताएँ और गोपालकृष्ण, बनमाली आदि की लोकोन्मुखी शैली और गीतात्मकता कहीं परिलक्षित न थीं। इस भाव्यवेश, रोमानी परि-कल्पनाओं और विवादास्पद नारों की रूखी-सूखी वाग्मिता में व्यंग्य की क्षीण धारा अदृश्यप्राय ही थी। निःसन्देह 'पाण्डुलिपि' ने इसमें निश्चित रूप से नयी विषय-वस्तु जोड़ी। भाषा रोमानी होते हुए भी एक नयेपन का सूत्रपात हुआ। तमाम राजनीतिक अतिशयता और लम्बी-चौड़ी डींगों, घोषणाओं और भाषणबाज़ी के बावजूद 'पाण्डुलिपि' की 'प्रतिमानायक' और 'चौथे दशक के पार' जैसी कविताओं में विषय-वस्तु की आधुनिकता प्रतिष्ठापित हुई। उदाहरणतः 'प्रतिमानायक' जीवन को उत्कण्ठापूर्वक निहारते हुए समय के प्रति सजग व्यक्ति की अन्तर्निहित वेदना को उजागर करती है। 'प्रतिमानायक' द्वितीय महायुद्धोत्तर नारी है। उसके भीतर अब भी छिपी हुई है शाश्वत नारी—गरिमा-मयी और गीतिमय, किन्तु उसका परिधान लहराता हुआ सिल्क-साटन नहीं है। वह सिलवट-भरे ख़ाकी कपड़े पहने है और कष्टप्रद निश्चय से छटपटाती उसकी आकृति कठोर एवं आडम्बरहीन है। वह पहले वाली रमणीय नारी, कविता में शृंगारिक कल्पनाओं की प्रेरक, रोमानी प्रेमिका नहीं है। मुख्य पात्र उससे मिलता है—मिलन-स्थल, नरसंहार तथा रक्तपात के दृश्य के आसपास कहीं, स्वप्न कटु यथार्थ के स्पर्श से विलुप्त हो गये हैं और अब वह मृत्यु तथा विध्वंस के छितराये भू-दृश्य का लगभग एक भाग ही बन चुकी है। 'चौथे दशक के पार' कविता की विषय-वस्तु भी लगभग ऐसी ही है।

राउतराय ने विविध प्रकार के काव्य-शिल्पों और प्रक्रियाओं मं प्रयोग किये हैं। प्रारम्भ में वह रोमानी क्रान्तिकारी रहे। बाद में उनकी कविता में समकालीन परिवेश में व्यक्ति के विकृत होने और उसके हनन की गहरी अनुभूति है। साथ ही समय बीतने की कष्टकारी चेतना से उपजा मनस्ताप भी है। 'नदी को एक दरवाज़ा' जैसी एक कविता में नदी अकस्मात् गृहोन्मुख समय की छाया बन जाती है :

पुल निर्मल दीखता है, कोई अकेला राहगीर
भोर को जोड़ देता है अस्त-व्यस्त दिन के बदन से,

कहाँ है नदी ? क्या नदी नहीं है ?
लगता है, यह नदी घर लौटते समय की उल्टी छाया है
जोड़ा है जिसने मुझे
उस केन्द्रीय प्रतिमा से ।

या फिर 'या देवी' जैसी कविता में, जिसमें दुर्गा सामान्य नारी का प्रतीक है : (सम्भवतः 'प्रतिमानायक' और 'आलोक सान्याल' में भी यही बात है।)

मुझसे वह प्रेम करती है हत्या की दृष्टि से,
हत्या करती प्रेम के कक्ष में
गुप्त सीढ़ी पर अथवा विस्मृत मैदान में ।
वह तो देवी है, उपासना के छल से
मुझे वास्तव में आत्मसात् करती है,
पलक-दर-पलक—
नाटक के प्रत्येक अंक में ।

इस क्रान्तिकारी आवेश के साथ-साथ राउतराय में ग्राम्य जीवन की लयात्मकता और उसके बहुमुखी सौन्दर्य से परिचय तथा उनके प्रति गहरी जागरूकता है । डॉ० मनीषा ने अपने 'उड़िया साहित्य के इतिहास' में उनकी कविता 'पल्लीश्री' की प्रशंसा ठीक ही की है।

'स्वगत (1958)', 'कविता—1962', 'कविता—1969', 'कविता—1971' और 'कविता—1974'—इन पाँच संग्रहों में लगभग 279 कविताएँ हैं और यद्यपि अधिकतर कविताओं में कवि की रोमानी मुद्रा और प्रगतिशील विचार-धारा यथापूर्व चली आयी है तथापि अनेक कविताएँ ऐसी भी हैं जो स्वाद और समझ में नवीनता दर्शाती हैं। विशेषतः बोलचाल की संवादात्मक लय के प्रति उनकी सूक्ष्म ग्रहणशीलता, साथ ही आंचलिक मुहावरों का प्रयोग करने की उनकी क्षमता इन कविताओं में निश्चित रूप से परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार 'स्वगत' में संकलित 'चिट्ठी' का शिल्प-तन्त्र, शब्दावली और सांकेतिकता दोनों के ही रोमानी हैं। एक पत्र की प्राप्ति और उस पत्र का सम्भावित उत्तर कवि में ऐसी स्मृतियाँ भाव जाग्रत कर देते हैं जो उसे भिन-भिन करती मधुमक्खियों और दुग्ध-धवल हंसों, दूरस्थ नदी व वन, साथ ही मौन तालाब और धान के खेतों में से भटकते हुए बहते झरने तक खींच ले जाते हैं। किन्तु 'कविता—1962' में संकलित 'स्मृति-

लेख' में एक पत्र के सन्दर्भ का प्रयोग काल और स्थान की समग्र की परतों के अन्वेषण के प्रतीक-रूप में किया गया है। इन साहचर्य-भावों का विस्तार कालिदास के दशाण से लेकर कलकत्ते की चौरंगी और आस्ट्रेलिया के मेलबॉर्न तक है, यह एक गहरे तीव्र शरीर-सुख ("उसका स्पर्श/उसके बदन की गन्ध/और उसका पिघला हर्ष") से प्रारम्भ होकर शान्त प्रसन्नता की एक आश्चर्यजनक प्रतीति तक जा पहुँचता है जहाँ दशाण तथा मेलबॉर्न एकाकार हो जाते हैं। ("याद आती है, अति दूर/फल-भरे जामुन-वन की छाया/वह मेरा दशाण/ग्राम है/नाम है/ मेल-बोर्न/मेरी प्रिय नगरी/ ।)

इसी प्रकार कविता 'आश्विन, 1958' एक स्तर पर तो एक प्रकृति-कविता है क्योंकि उसमें आश्विनगत अनेक प्राकृतिक उपादानों के उल्लेख हैं, किन्तु एक अन्य स्तर पर यह कीट्स की कविता 'आटॅम' के समान समृद्ध एवं फलवती है जो जीवन को उसी प्रकार सँभालती है जैसे कि एक माँ अपने बच्चे के जीवन को। अन्ततः एक गहनतर स्तर पर यह कवि की सूक्ष्म चेतना से अनुस्यूत है जिसमें से हर्ष और आनन्द उमँगते हैं। कविता के अन्त में पतझड़ का स्वागत होता है। इसमें कई भावनाएँ एक साथ निहित हैं--एक तो सुहावनी ऋतु का आना, दूसरे जैसे किसी मनभावन मित्र की वापसी, लेकिन अन्ततः यह व्यक्ति की अपनी ही हर्षविभोर आत्मा की अद्भुत प्रतीति है जब अन्धकारमयी वस्तुएँ उजली ख़ुशी के सामने बिल्कुल भूल-सी जाती हैं।

आश्विन को बुलाओ, आश्विन को बैठाओ, बरामदे में
आराम-कुर्सी पर।
नारंगी क्रोटन के पत्ते पर, या लता-गृह में, या नदी-किनारे।
यहाँ की दीवार पर, यहाँ के आकाश में, यहाँ के शहर मगाँव में
मैं देखता हूँ छलछलायी, ढुलढुल अगणित नीले शैशव में।
आश्विन को बुलाओ, आश्विन को लिवा लाओ
आनन्द के, चेतना के घर।
अक्षत रंग के बादल, सफ़ेद हंसों के झुण्ड, सफ़ेद जुही
उसको प्रतिध्वनित करती है॥

मस्तिष्क की यह अधिमानसिक आदत वहाँ भी देखी जा सकती है जहाँ सन्दर्भ प्रकृति अथवा उसके समान वस्तुओं के नहीं, हेयरपिन अथवा स्कूटर जैसी सामान्य वस्तुओं के हैं। 'कविता—1971' में संकलित

कविता 'हेयरपिन' का प्रारम्भ एक खोये हुए हेयरपिन की घर-भर में ढूंढ़ के साथ होता है। ("मैं ढूंढ़ नहीं सका उसे/कहाँ है तुम्हारा हेयर-पिन") धीरे-धीरे यह खोज अन्य क्षेत्रों—दूरस्थ होटलों, नदी-किनारों, समुद्र-तटों, साथ ही अँधेरे की परतों, चाँदनी की तेजी और अन्ततः काल के सीढ़ी चढ़ते क़दमों, दूरस्थ अतीत और दूरस्थ भविष्य तक जा पहुँचती है। आख़िरकार हेयरपिन यौवनमय जीवन का प्रतीक बन जाता है, (तुम्हारी वेणियाँ, सुन्दर और सघन/और तुम्हारे वक्ष के गुम्बद) जिसका खोना नग्नता, रीतेपन और मृत्यु को दहला देने वाला चित्र प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार 'कविता—1971' में ही संकलित एक अन्य कविता 'लाल स्कूटर' नाटकीय ढंग से एक स्कूटर की गति के उल्लेख के साथ शुरू होती है, किन्तु एक अमूर्त्त, अपरिचित परिस्थिति में, जहाँ स्कूटर रीतेपन से होकर एक तलहीन रसातल की ओर दौड़ता है, जिसमें डूबकर सब चीज़ों का अन्त हो जाता है। किन्तु सबसे पहले तो पाठक को यह याद दिलाया जाता है कि यह गति समय में है और अतीत के जुड़ जाने से वर्तमान एक परिचित परिस्थिति बन गया है शहर की सड़कों पर से होते हुए जहाँ आप एक पिकनिक के लिए स्कूटर पर जा रहे हैं ("वहाँ भोजन है और पेय/और सेंडविच के पैकेट/और एक सैलानी और सरायों की एक सूची") किन्तु एक अन्य स्तर पर गति अनस्तित्व से अस्तित्व की ओर है, कम महत्वपूर्ण से अधिक महत्वपूर्ण की ओर, और सर्वनाश का बिन्दु बोध का चरम बिन्दु बन जाता है। ("शून्य से उभरती है ध्वनि, और स्कूटर दौड़ता है अनस्तित्व से अस्तित्व की ओर/स्पर्श करता हुआ नीले शहरों के तले") एक अन्य अर्थ में सम्भवतः वहाँ गति है ही नहीं स्कूटर चलता ही नहीं। (सम्भवतः वह कभी चला ही नहीं। समय के नदी के आर-पार।) फिर भी अस्तित्व स्वयं कर्म का द्योतक है, और कर्म कर्म की ओर ले जाता है, जैसे कारण परिणाम की ओर, सर्वनाश के अन्तिम बिन्दु तक जिसके लिए मुख्य पात्र तरसता रहता है। कुल मिलाकर स्वच्छन्दतावाद और वामपन्थी प्रगतिवाद की मजबूत बुनियाद, जो उनके काव्य-सृजन में शक्तिशाली तत्त्व रहे हैं, पर उभरे राउतराय कई अवसरों पर भाषा और कल्पना में एक अधिमानसिक सघनता की ओर अग्रसर हुए और कहीं वह स्वतन्त्रता के पश्चात् नई कविता के उदय के प्रवर्तक स्वर बने।

राउतराय की कविता की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता उसकी

संरचनात्मक विशिष्टता और उपयुक्त बिम्ब के प्रयोग की क्षमता है। उनकी कविताएँ उत्कृष्ट शिल्प के नमूने हैं और उनमें अनुप्रयुक्तता अथवा एक संगठित भावोत्तेजक रूप-विधान की संरचना की अक्षमता कहीं नहीं पायी जाती है। उनकी भाषा सामान्यत: रोज़मर्रा की साँस लेती हुई जीवन्त बोलचाल की लय की साझेदार हो जाती है।

'कविता : 1969' सची राउतराय की 67 कविताओं का संकलन है। इसमें सोलह पृष्ठों की भूमिका है। कविताएँ तीन खण्डों में विभक्त हैं जिनके शीर्षक हैं—'दृश्य', 'समकालीन चेतना' तथा 'अन्य कविताएँ'। वस्तुत: खण्डों के ये शीर्षक कविताओं के सम्बन्ध में अधिक नहीं बताते। यह चयनिका कटक के एक अज्ञात, गुमनाम रिक्शा-चालक भजनी को समर्पित है। भजनी 'वेटिंग फ़ॉर गोदो' में निरूपित उन दो चरित्रों का विलोम है जिनके लिए एक पर्णविहीन मृतप्राय वृक्ष के निकट खड़े रहने के कारण कहीं कुछ घटित नहीं होता। भजनी को अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। उसे अपनी सवारियाँ जल्दी मिल जाती हैं : स्कूल जाते बच्चे, अदालत जाते वकील, अस्पताल जाते रोगी या परिचारिकाएँ अथवा कोई भयाक्रान्त लेखक तक। भजनी नारे लगाता है, राजनीतिक जुलूसों में शामिल होता है, बारातों में अपने सिर पर गैस के हण्डे लेकर चलता है, अपने एक पड़ोसी की लड़की के साथ मैटिनी शो देखता है। "वह कुछ न कुछ करता ही रहता है", कवि का कहना है। वह एक ठण्डे सूरज के नि:श्वासों में निस्तेज नहीं होता रहता। वह अघटना, कष्ट-दायक चुप्पी, निरर्थक शब्दों का शाश्वत आभा-मण्डल नहीं है।

भजनी का दिमाग़ अभी सही-सलामत है। उसकी मांस-पेशियाँ पुष्ट हैं। अपना गमछा सिर पर पगड़ी की तरह लपेटे वह तेज़-तेज़ पेडल मारता है। अँधेरा होने पर पुलिस वाले के सामने पड़ जाने पर वह रुककर अपने रिक्शे की बत्ती जलाने लगता है। वह अपने अँधेरे कमरे में सोता है और कुछ सपने भी देखता है। कवि प्रश्न करता है :

'क्या रिक्शा वाला यह कविता समझेगा' और उत्तर देता है—"आख़िरकार समझा ही कौन है? क्या वे—नेता, मन्त्री, न्यायाधीश, उपकुलपति, देशभक्त, प्रेमिकाएँ—जिनके लिए इतनी सारी कविताएँ लिखी गयी हैं?"

सची इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं : यदि भजनी भी न समझता तो इससे अन्तर क्या पड़ता! समर्पण कुछ रेचक-जैसा तो है किन्तु यह कवि

के बैंकेट-विरोधी रुझान को प्रकट करता है और उनकी इस मान्यता को बहुत ही स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करता है कि सृजनात्मक कला अपनी आवश्यक सामाजिक प्रासंगिकता से वंचित नहीं रहनी चाहिए। यह बात सची राउतराय ने पाँचवें दशक के प्रारम्भ में अपने प्रथम महत्त्वपूर्ण काव्य-संकलन 'पाण्डुलिपि' में कही है।

प्रथम खण्ड की 27 कविताएँ कवि के इस दृष्टिकोण को और भी रेखांकित करती हैं। इस खण्ड की कविताएँ अपने सामाजिक सरोकार, मूलभूत मानव-संवेगों से कविता की रोमानी सूत्रबद्धता के प्रति सचेतता और अन्यथा शत्रुतापूर्ण एवं संवेदनहीन जगत् में प्रेम, स्वप्न और सुख की सम्भावना के लिहाज़ से मुखर हैं। उसमें 'नदी को एक दरवाज़ा' जैसी अधिमानसिक कविताएँ हैं, जहाँ क्षणभंगुर समय शाश्वतता का एक विपर्यस्त बिम्ब बन जाता है। एक कविता है 'द्रौपदी की साड़ी' जो लगभग डी.एच. लॉरेंस के अन्दाज़ में मृत्यु और काम को बड़ी सुन्दरता से एकान्वित कर देती है। एक और रोमानी कविता है 'या देवी' जिसमें दुर्गा शाश्वत नारी बन जाती है, जो प्यार करती है, पोषण करती है, आपूर्त्ति करती है और ध्वंस करती है।

29 कविताओं वाला दूसरा खण्ड घटना, व्यक्ति अथवा अवसर-विशेषों पर केन्द्रित है। एक कविता नेहरू पर है, एक गांधी पर, एक लालबहादुर शास्त्री पर, एक लेनिन पर, एक कविता एक आन्दोलन में मारे गये एक छात्र-नेता पर, एक उड़ीसा के समाजवादी नेता सारंग-धर दाश पर। इसमें 'आइक[1] और ताजमहल', 'जलियाँवाला बाग़', 'बर्लिन', 'भारत और सोवियत क्रान्ति' आदि पर कविताएँ हैं। कभी-कभी उनसे घटनात्मकता की गन्ध आती है, किन्तु मुहावरे पर कवि की पकड़ और परिपक्व संरचनात्मक सूक्ष्मता का अभाव कहीं नहीं खटकता। तीसरे खण्ड में ग्यारह कविताएँ हैं जिनमें एक काव्य-नाटक 'सीता-चोरी' भी सम्मिलित है। काव्य-नाटक में श्रीराम, कवि सची राउतराय, जटायु और नन्दी के स्वर हैं। यह काव्य-नाटक मानव-चरित्र का सार-सम्बन्धी एक केन्द्रीय प्रसंग उठाता है और शिव और अशिव के मध्य द्वन्द्व के रूप में महाकाव्य के सुगम प्रणयन को चुनौती देता है। उसमें अनेक समसामयिक परिस्थितियों और चरित्रों का समावेश है जो महाकाव्य की कथा में और मूल्य-व्यवस्था में नये आयाम जोड़ देते हैं।

1. अमरीका के भू० पू० राष्ट्रपति जनरल आइज़न हावर।

'कविता 1969' का प्रकाशन सची राउतराय की साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत पुस्तक 'कविता : 1962' के छपने के आठ वर्ष पश्चात् (1970 में) हुआ था। कवि के अनुसार इसमें इस अवधि में रचित समस्त कविताएँ संकलित हैं। ये दोनों पुस्तकें संयुक्त रूप से एक सूक्ष्म संवेदना, मुहावरे की पक्की पकड़ और एक सुकुमार शिल्पगत विशिष्टता अभिव्यक्त करती हैं। यह एक ऐसे कवि का परिपक्व और उल्लेखनीय प्रकाशन है जिसकी गणना भारत के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवियों में होती है।

एक कवि के रूप में राउतराय एक लम्बी यात्रा तय कर आये हैं। वह निःसन्देह एक प्रमुख भारतीय कवि हैं और निश्चित रूप से आधुनिक उड़िया-कविता के प्रवर्तकों में से हैं। चौथा और पाँचवाँ दशक प्रगतिशील कविता का दौर रहा है और राउतराय उसके एक प्रमुख स्वर रहे हैं। किन्तु उनकी इस अवधि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना 'बाजी राउत' है, जो भूतपूर्व राजाओं की रियासत धेनकनाल की निरंकुशता की गोली के शिकार एक नौजवान लड़के के विषय में लिखा गया शोकगीत है। हरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने इस कविता तथा कतिपय अन्य कविताओं का 'दि बोटमैन बॉय एण्ड 40 अदर पोएम्स' नाम से अंग्रेजी में अनुवाद किया था जिसका बड़ा अच्छा स्वागत हुआ। इन कविताओं ने विपन्न व्यक्ति, उसके अभावों तथा कष्टों और निर्मम नियति को समर्पित संवेदनशील कविताओं के बतौर ख्याति अर्जित की। इन कविताओं में क्रान्तिकारी आवेश भी साँसें ले रहा है।

यही वह सरोकार है जिसे 'कोणार्क' कविता में स्वयं को भिन्न रूप से व्यक्त करती है जहाँ कवि मन्दिर को एक उच्चकोटि की सौन्दर्यपरक अभिव्यंजना के रूप में नहीं, बल्कि भग्न हृदयों और लाखों कंकालों के एक ढेर के रूप में देखता है। उसका मन्तव्य है कि कविता और कला ने अपनी आदिम भव्यता के दौर में मनुष्य और उसके श्रम या प्रकृति को अभिव्यक्ति न देकर, शिल्पकृतियों और कलाओं को अभिव्यक्ति दी है जो प्रायः जनसाधारण के शोषण द्वारा रची गयी थीं।

राधानाथ के बाद आधुनिक उड़िया-कविता की संभवतः सर्वाधिक खटकने वाली कमी एक बौद्धिक तत्त्व की लगभग पूर्णतः अनुपस्थिति रही है। जिसका निराकरण आवश्यक था। यह भी नितान्त सम्भव है कि कतिपय आधुनिक कविताओं में अतिबौद्धिकता की प्रवृत्ति रही है।

किन्तु यह तो स्वयंसिद्ध ही है कि कविता को सदैव एक बौद्धिक संरचना आवश्यकता पड़ती है, जो कि रोबर्ट कॉन्क्वेस्ट के शब्दों में, "अधिक मूल्यवान तभी होती जब इसे मानवता, व्यंग्य, तीव्र भावावेग अथवा समझदारी की दीप्ति दे दी जाये।"

रूप-विधान के प्रति सारे सैद्धान्तिक विद्वेष मूलत: छद्म होते हैं। रूपविहीनता मात्र एक अन्य भंगिमा होती है और वह भी अस्थायी। समय बीतने पर सर्वाधिक अराजकतापूर्ण धरातल में भी व्यवस्था प्रकट होनी शुरू हो जाती है। साहित्यिक साधनों अर्थात् एक अनिवार्यत: औपचारिक प्रयास के द्वारा ही साहित्यिक रूपाकार का उच्छेदन स्थापित किया जा सकता है, किसी अन्य प्रकार से नहीं।

राउतराय के पास शिल्प-विधान तो था ही, वह उसे मानवता, व्यंग्य, तीव्र भावावेग और समझदारी की दीप्ति भी दे सके। प्रस्तुत हैं उनके सम्पूर्ण काव्य-लेखन में उनके परामर्श और सहयोग से चुनी गयी अधिक महत्त्वपूर्ण कविताओं के हिन्दी रूपान्तर। हमें पूरा विश्वास है इस संकलन में पाठकों को उनकी विविधता और गहनता की अच्छी-ख़ासी झाँकी देखने को मिल सकेगी।

—सीताकान्त महापात्र



प्रस्तुति

भारतीय ज्ञानपीठ ने सदा भारतीय साहित्य में एक सेतु की सक्रिय भूमिका निभाई है। ज्ञानपीठ पुरस्कार की असाधारण सफलता का मुख्य कारण यही है। भारतीय भाषाओं में से चुने हुए किसी एक शीर्षस्थ साहित्यकार को प्रतिवर्ष दिए जाने वाले पुरस्कार का अनूठापन इसमें है कि यह भारतीय साहित्य के मापदण्ड स्थापित करता है। ज्ञानपीठ इन चुने हुए साहित्यकारों की कालजयी कृतियों का हिंदी (और कभी-कभी अन्य भाषाओं में भी) अनुवाद पुरस्कार की स्थापना के समय से ही साहित्यानुरागियों को समर्पित करता आ रहा है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं के अन्य साहित्य मनीषियों का हिंदी अनुवाद के माध्यम से उनकी भाषायी सीमाओं के बाहर परिचय कराके ज्ञानपीठ एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय उत्तरदायित्व निभा रहा है। इस साहित्यिक अनुष्ठान को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए ज्ञानपीठ ने अब विभिन्न साहित्यिक विधाओं की उत्कृष्ट कृतियों को श्रृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित करने का कार्यक्रम सुनियोजित किया है। प्रत्येक विद्या के सभी अग्रणी लेखकों की कृतियाँ व संकलन इस योजना में सम्मिलित करने का विचार है। हमारा अनुभव है कि किसी भी साहित्यिक (या अन्य भी)रचना का हिंदी में अनुवाद हो जाने पर उसका अन्य भाषाओं में अनुवाद सुविधाजनक हो जाता है। कविता और कहानी की इन श्रृंखलाओं के बाद शीघ्र ही अन्य श्रृंखलाएं साहित्य-जगत को प्रस्तुत करने के लिए हम प्रयत्नशील हैं। इन श्रृंखलाओं की उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए कुछ पूर्व-प्रकाशित पुस्तकों को भी इसमें सम्मिलित किया है और आगे भी ऐसा विचार है। इनके अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं के नए और नवोदित लेखकों को उनकी भाषा परिधि के बाहर लाने में भी हम सक्रिय हैं। देश के सभी भागों के साहित्यकारों ने हमारे प्रयत्नों का जिस प्रकार स्वागत किया है और सहयोग सन दिया है उससे हम अभिभूत हैं। हमारा विश्वास है कि यह सब प्रयत्न आधुनिक भारतीय साहित्य की मूल संवेदना उजागर करने में सार्थक होंगे।

इस कार्य में ज्ञानपीठ के सभी अधिकारियों से समय-समय पर मुझे जो परामर्श और सहयोग मिलता रहता है उसके लिए बिना आभार व्यक्त किए नहीं रह सकता। समय-बद्ध प्रकाशन की व्यवस्था, भागदौड़ व अन्य काम-काज का भार उठाया है नेमिचन्द्र जैन, चक्रेश जैन, दिनेश कुमार भटनागर व सुधा पाण्डेय ने। अपने इन सहयोगियों का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। उनके अकथ परिश्रम के बिना यह कार्य कब पूरा होता यह कहना कठिन है।

इस पुस्तक की इतनी सुरुचिपूर्ण साज सज्जा और मुद्रण के लिए मैं शकुन प्रिंटर्स के अंबुज जैन और कलाकार पुष्पकणा मुखर्जी का आभारी हूँ।

नई दिल्ली
26 जनवरी, 1990

—बिशन टंडन
निदेशक

अनुक्रम

पद्म भूक्

आकाश में भीषण आँधी, इन्द्र के मेघ भर रहे हुँकार,
हाथी दाँत से बना तेरा सपने का भव्य मीनार
ढह जाता है कवि ।
फूलों की फसल में आज टिड्डा दल गा रहे भैरवी।
कमल भोज के देश में प्रवाल के मुलायम तोरण तले,
लगी हैं नमक की लहरें, पद्म भूक् तेरे कविता वन में,
नहीं चाहता आज वह प्रकाश
नीली नदी के वालूचर में मिस्र का मृत इतिहास ।
श्रावंती की नीली भौंहें, द्राविड़ की प्रसिद्ध नीलिया
नहीं गढ़ते बदन ढलकर मुलायम आसमानी प्रतिमा ।
सारा कुछ टूट जाता है···
सरीसृप सपने के प्रासाद भू-कंप से !
बुझता है दिन···अँधकार···उनींदे टैक्सीवाले के मन में
इस वस्ती की गणिका के अनुर्वर निष्फल सपनों में···
रात्रि की निर्जन आत्मा अवतरित होती है एकांत वीराने में
कहाँ है रास्ता, आज कहाँ है रास्ता ?
सुदूर इस्पात कारखाना सिर्फ़ जमुहाई लेता है !
वातास खाँसती है दूर रहकर क्षयरोगी-सी···
पुकारते हैं लाखों शीर्णकण्ठ "जागो-जागो, रात बीत चुकी।"

कहो-कहो,
हे रुद्र आह्वानी !
शहर की तलहटी की रुग्ण मुरझायी उषा पुकारती है···
"जागो पलायनवादी, नष्टपंख हे मूक मैनाक !
जागो आत्म-विभोरी !
घृण्य इस नृत्य का वेश दूर फेंक जागो वृहन्नला,
अपना परिचय धारण किए रहो जैसे निशानी,

अज्ञातवास का पर्व शेष हुआ,
लोहे का संगीत सुनो, धान की सीढ़ियाँ गाँव की
कोयले की गँध आती है, इस इस्पात नगरी के द्वार पर—
मिट्टी की गेरुई राह बुझ जाती है ; सूर्य के गर्भ में
नूतन जीवन खिल रहा खून, पसीने, आँसू और साँसों में,
जागो महाकवि
इस महाजाति के ललाट पर, हे सावन के रक्त पुष्प[1] !



1. सन् 1943।

बर्लिन

कहा है स्तालिन ने···
पच्चीस अप्रैल से पहले लालसेना घेर लेगी बर्लिन !
स्तालिन की बात होती नहीं झूठी कभी,
दुनिया के पंचांगकारो ! यह तो तुम मान चुके हो !
नहीं है यह हमारी-तुम्हारी बात
स्तालिन के कण्ठ से कहा है यह, विश्व की जनता ने।
हो सकती है देर घड़ी भर,
एक दिन या एक प्रहर,
इधर-उधर,
किन्तु एक बार जनता का कण्ठ जो कहता है
झूठा कभी वह नहीं होता।
इतिहास ने इस बात से बार-बार आगाह किया है।
सुनो-सुनो ऐ विश्ववासियो ! सुनो-सुनो आँधी की आवाज़
आज नहीं तो कल, होगा ही, होगा जनता का राज।
सुन पड़ती है स्तालिन की वाणी
प्रभात का इश्तहार लिख रही आज नाज़ी राजधानी।
सोया है बर्लिन !
चारों ओर से तीर की तरह लाल सेना आकर मिल जाती है
जनता की भीड़ में, विजित और विजेता
हो जाते हैं एकाकार; स्वप्न देखते दुनिया के नेता
एक मानव जाति का
पृथ्वी के मानचित्र में मिट जाती हैं भेद-भाव की दीवारें।

लोहित सुबह
दीखता है पृथ्वी का रणक्षेत्र, करुण कंकाल।
दीखता है चिरंतन प्राण

नाज़ी जल्लादों के हाथों हुआ नहीं जिसका निर्वाण।
श्मशान के फूल की तरह जीवन की रक्त-शिखा
उसी का सपना एक दिन रूस में गोरिल्ला बालिका ने
देखा था अमावस्या के तट पर,
विजय का मुकुट पहनाया था उसने 'तानियाँ' के सिर पर।
मौत नहीं, उसकी मौत नहीं।
यही सपना देखा था एक दिन साथी पाणिग्राही ने।
वही सपना देख रहा आज भी तो दूर गाँव के कोने में
किसान संघ का जटी भोई नामक कार्यकर्ता।
देश-देश में, आकाश-आकाश में
सूर्य-सा वह जीवन खुद को रोज़ प्रकट करता है।

सोया है बर्लिन,
"कल तो सुबह होगी," कान में उसके
कहता है स्तालिन।[1]



1. पच्चीस अप्रैल 1945 को लालसेना के बर्लिन में प्रवेश करने से पहले लिखित।

धीरे बहे कृष्णा नदी

धीरे बहे कृष्णा नदी—
प्रथम आषाढ़ जागे भूदेवी[1] की करुण आँखों में।
पढ़ा है कविता में ऐसे समय में रोती है यक्ष-वधू
यक्ष के आँसू बनते हैं कालिदास की लेखनी में मधु
मैं तो चिर पथिक हूँ, नहीं हूँ मैं उज्जयिनी वासी,
शिप्रा के श्यामल तट पर था कभी परदेशी—
आज नहीं वह याद, वर्षा का नीला अत्याचार
बार-बार मन में मेरे लहर तोड़ती है एक ही बात
छद्मवेशी, मैं तो छद्मवेशी हूँ—
तुम मेरी शमी[2] की शाखा, तुम्हारी गोद में मैं परदेशी
छिपाया है अस्त्र अपना, खो आया हूँ अपना अग्नि-तूणीर
आषाढ़ के रहस्य में छिपी है मेरी सुवर्ण छावनी।
गढ़ा है शंख-नीड़, टूटा है मेरा पथ से विश्वास।
तुम्हारी शीतल छाया भयंकर है कितनी !
मेरा अज्ञातवास
ख़त्म हो चला है।
प्रथम प्रणय का नशा टूटा है अपनी माटी की साँसों में
लौट चलें, वापस लौट चलें,
उज्जयिनी होकर, शिप्रा नदी की लहरें तैर।
रामगिरि को मत्था टेक,
चलो लौट चलें प्रिये, सुनो, सुनो बड़ी रूखी बात—
लौट चलें इस्पात नगर,
लोहे का आह्वान आता है : देखो मेरी माँसपेशी के नीचे
जाग उठा है दिन का संकेत,

---

1. भूदेवी—कवि की सहधर्मिणी। वे आंध्र प्रदेश की हैं।
2. एक पेड़ विशेष

ख़ून, पसीने, आँसुओं से भीगी
यह लोहे की राजधानी सारी
सजे हैं हमारे लिए देखो, देखो, कैसे तोरण—
पीछे हमारे कृष्णा नदी, पड़ा है नीला शाल-वन।
खो जाती है दूर कहीं आषाढ़ के रहस्य की सीमा—
हमारा जगत छू वास्तविकता का धूसर देशांश !!
लांघ शत उतार-चढ़ाव,
ज्वार···भाटा···
सिकुड़ी-सिकुड़ी मिट्टी की सड़क,
इसी बीसवीं शताब्दी का अंक
ईंट, माटी, पत्थर के दुर्गम संसार में
मैं आगे, तुम मेरे पीछे···
चलो चलें—फिर लौट चलें···
पड़ी रहे हमारे पीछे आषाढ़ की श्यामल छावनी !
चलो पद्मा - चलो पद्मावती !
नीड़ छोड़, उड़ चलें रेगिस्तान की ओर
कबूतर-कबूतरी !



संतुलन

उज्जीवन आशाहीन इस युग के स्थिर मूल्य
उसके उन्मार्ग ध्यान में
क्या भार-केन्द्र है मेरा स्थिर ?
पूछता हूँ, बतलाओ, बतलाओ, मैदान और दीवारो !

मैं तो निम्नगामी उपनदी की धारा हूँ
भागी जा रही हूँ सागर से मिलने,
मेरी आत्म असंगति मुझे खींचती है दूर
देश, काल, पात्र के पीछे अनंत भ्रम में।

एक पैर शून्य में उठा
दूसरे पैर की ज़मीन मैं जो माँगतो हूँ
द्विधाजयी आत्म-संचेतन,
एक पग ज़मीन के साथ कौन देगा, कहो !
अपनी तीक्ष्ण दया का दर्शन ?
तारों के तिर्यक् पथ पर
यदि पड़ती है मेरी एक आँख
और दूसरी पृथ्वी के पथ पर
ख़ुद को जाँचता हूँ बड़ी सावधानी से
आत्म-केंद्र में अति गोपनीयता से।
पथ्वी का घूर्णावर्त मैंने ही तो देखा है

देखा है उसका 'स्थिर केन्द्र'[1] (उस आँख से)भी
जहाँ 'होता है नृत्य'[2] किसी ने कहा है,

---

1. 'स्टिल सेंटर' स्टीफेन स्पेंडर
2. इलियट की 'देयर डान्स इज़' पंक्ति की ओर संकेत।

'चिर रास,'—जिसकी बंसी सुन
स्वप्न टूटता है जीवन-झरने का
वही है नृत्य, मोर का नृत्य,

'स्थिर केन्द्र' विश्व प्रवाह का।
मेरी क्षुद्र कामना का मत्स्य यंत्र भ्रमित होता है
इधर-उधर बींधता है जब तीर
मेरा धनुष संयत रखे दीप्त बुद्धि की शिखा
निर्विकल्प वह दृष्टि-भास्वर।

जीवन का घना नीला आश्चर्य-समन्वय
आँधी की प्रचंड वायु-साँस से निकल
छिन्न-भिन्न बादलों-सा इतस्ततः,
अपने खण्डित रूप को काव्य-रसायन से
कर तप्त, या कर प्रकाशित
सोचता है, कैसी विडम्बना ! मध्य-वित्त चिन्ता का अभ्यास !

इसलिए माँगता हूँ ईश्वर से वरदान
महाशय ! प्रात्यहिक इस जीवन की
सरल रेखा के समानान्तर मेरी कामना
न भी हो, तो कोई बात नहीं, पर उससे आप समकोण अवश्य बनाइए···
उसे भेदकर द्विखण्डित कीजिये
या हो जाइए शतखण्डों में विभक्त, आघात से जर्जरित।
किन्तु उस आघात और संघर्ष से बने
जीवन के नये रास्ते, नये-नये साँचे।
नहीं चाहिए आलस्य, शांति, काव्यमय सहज रोमांच।

पूरा करो फिर मेरा ख़ाली तूणीर
दो ही विषम बाणों से
विद्रोह और विद्रूप से
संग्राम मेरी वृत्ति हो।
विद्रूप उज्ज्वल करे
मेरा अवसर।

इनमें से एक मुझे दो
या फिर दे दो ये दोनों ही तीर।

देखता हूँ, जब ये व्यग्र तीर्थगामी
चले जा रहे बेरोकटोक
कोई पैदल, कोई ट्रेन से
कोई चढ़ साइकिल—
तेज रफ़्तार से…
उनसे घृणा करता हूँ।
घृणा करता हूँ, क्यों ऐसी भागम-भाग है ?
फ़ुटबाल खेल के बाद छिन्न-भिन्न जनता के मन में
विच्छृंखल उत्तेजना गूंजती है जैसे,
उसी तरह ये भी केंद्रच्युत हैं।

वरदान मांगता हूँ मैं तो
केवल एक
दो मुझे एक डग ज़मीन
ढँकने को अपने ऊर्द्धायित दूसरे पैर
की शून्यता।[1]



1. भगवान ने वामन अवतार में राजा बलि से तीन डग ज़मीन माँगी थी।

कोणार्क

तुमने देखा तो है शिलाओं पर
उसकी रम्य कला का रूप,
मैंने देखा है उसमें करोड़ों कंकालों के
भग्न हृदय का स्तूप।

तुमने देखा है खिली है किस तरह
कला के जादू से,
रात्रि की काली यवनिका पर
स्वर्ण उषा की छवि।

देखा है, कैसे खिली है कविता
पत्थरों के मूक वदन पर,
तंद्रामग्न अलसाये सपनों में
डूबी है अति स्नेह से।

तुमने चखा है रस का झरना
चारु मन्दिर तले
अंजुलि भर-भर पिया है पीयूष
मिटाकर तृष्णा की ज्वाला।
मैं लौटा हूँ हाय दीन अरसिक
उसी के सिंह द्वार से,
पुंजित व्यथा के अवसाद से
बोझिल है यह हृदय
मजदूरों की नज़रों से
देखा है मैंने उस मन्दिर का रूप व्यथा की आरती ले।
देखे हैं मैंने उस शिला की क़ब्र में
कई कारीगरों के सीने,
तिल-तिलकर, हाय, पाई है समाधि,
सह यातनाओं की ज्वाला।

मज़दूरों ने पशुओं की तरह
ढोया है शिलाओं का बोझ,
झुकाए अपना मेरुदण्ड ।
है कोई हिसाब उसका ?
कई हथौड़े, छेनियाँ, मुद्गर,
राजा का हुक्म मान,
अपने काले पत्थर जैसे शरीर से
बहाया खून पानी-सा ।

न जाने कितने बढ़ईयों, कारीगरों, लुहारों का
खून घुल-मिल गया,
सागर का खारा पानी उसे
नमक की तरह निगल गया ।

देखा दुनिया ने विशाल मन्दिर !
राजा का जय-जयकार किया,
पण्डित तो कहता है, इसमें
लिखा है देश का परिचय ।

कोई रसिक कहता है, सुन्दरी नटी का
लीलायित नीवी बँध,
स्वतः श्लथ उसकी कंचुकी के नीचे
पद्म कली का छन्द ।

कोई देखता है नाग कन्या के गले में
रतिच्युत बनमाला,
यक्ष-वधू के जूड़े में
शत रात्रि की ज्वाला
अनुभव करता है कोई निरन्तर,
क्या किसी ने जानना चाहा
इतिहास आदमी का ?
पूछेगा कौन, कितना जीवन
उसके लिए हुआ है क्षय,

कितने वसूले, आरियाँ, कुल्हाड़ियाँ
हुए हैं पराजित ।

कितने क्षुधातुर लोगों ने खाई है
मिट्टी उन दिनों भूख से,
रम्य कला के दरबार में उसकी
कोई नहीं परिपाटी—!
नहीं है उसकी चरण लिपि ।
है शिल्प वहाँ, नहीं है कलाकार या शिल्पी
धन्य है हमारा शिल्प चातुर्य
धन्य है ललित कला ।

राजा का सुनाम प्रचार करने को
कोटि शरीरों में बिंधती सलाखें
अमर होगा कालांतर में
चूंकि एक व्यक्ति का नाम
लाखों अनाम जीवनों को लेकर
बनाया गया है श्मशान ।

यह भावुक जाति
अब भी देख उनकी क़ब्र
गर्व से तानती है अपना सीना ।
कोटि-कोटि बिशु महाराना
और शिबेई सामंत अनेक
इस मन्दिर के नीचे सोए हैं,
कला की फ़सल के खेत में ।
गढ़ने को यह मन्दिर
किया श्रमिकों ने रक्त-दान,
कृषकों ने दिए अपने कनक शस्य
राजा के कोष में बेहिसाब !
हालांकि कला के दरबार में नहीं
उनकी व्यथा का स्थान—
हँसी या रुलाई, या
फसल कटाई का कोई गीत ।

तोरण-तोरण में नन्दन श्री,
यक्ष पुरी की लताएँ.
कहाँ है धरती का शस्य ?
धान की बिजली छटा ?

आभिजात्य के आदेश से वहाँ
सामंती रुचि के साँचे में,
नग्न नटी के कोमल चरण
चपल ताल में थिरकते हैं।
हैं वहाँ सिर्फ़ फूलों की फ़सलें
सपनों की नीली लहरें,
हीरे का सूर्य भिनसारे ही
धरती का प्रणाम लेते हुए
कह जाता है उस के कानों में,
जीवन के सारे आघात, अपमान
गाये नहीं कभी किसी ने गीतों में।
रम्य कला की लीला !

कुछ भी तो नहीं कहा मनुष्य के बारे में,
जो था कहना।



बंदी की वंदना

फागुन आ तो गया !
नूतन जीवन में हँस रही होगी रुक्ष मिट्टी की धरा
वंध्या विटपी, सांध्य तिमिर में खिल चुके होंगे अनेक फूल
वन-सभा-सखी हँस रही होगी, अलि कुल समवेत हुए हैं
रुद्ध है मेरी कोठरी का द्वार ! यह खबर देगा भला कौन !
विशाल धरा की खबर के लिए वंदी मैं वहाता हूँ आँसू ।
मेरे चारों ओर खड़ी हैं
ईंट की दीवारें, खड़ी हैं इस्पात-सी, मथकर धरती का हिया !

लोहे के दैत्य से इन दरवाज़ों ने अपने विराट जठर तले
युग-युग से जगह दी जिन तरुण यात्रियों को
आज उन सभी आत्माओं के साथ हुआ मेरा सहवास,
शून्य कारावास के अँधेरे तले अनुभव करता हूँ उनकी सांसें ।

युग-युग, बारंबार ।
जितने दूतों ने आ धरती पर उँडेली है रक्त की धार
कलेजा निचोड़ अर्पण की जिन्होंने अपनी आयु
उन्हीं की बातें कानों में सुनाती है उनकी यह बद्ध वायु ।
शुद्ध इस माटी के नीचे से कहती हैं उनकी अमर हड्डियाँ
मन्दिर समान पवित्र मानता हूँ कारागार का परिमंडल
अनादि युग की अशरीरी शब्दवाणी को
दोनों हाथ जोड़कर
मैं वंदना करता हूँ
पंगु, दलित, असहाय के लिए सांकल अपनाई जिन्होंने
भूखे के मुंह में देने को आहार, जिन्होंने मृत्यु-सेवा की,
शोषित के गले से खोलने को नागफाँस

युग-युग से जितने वीरों ने इस कारागार में दी, क़ुर्बानी,
आज उन्हीं की बातों ने
इस कारागार में चुपके से उठाया अपना विजयी माथा
नाड़ी में भरा स्पंदन, मेरी शिराओं में भरा बल
स्नायु में भरा कोटि असुर-संहारक कौशल ।
कह गया कानों में, नहीं मैं बलहीन, नहीं मैं शक्तिच्युत,
बाँहों से मेरी जनमी है विभीषिका, आँधी है मेरा दूत ।
मृत्यु है मेरी अनुचरी,
दुनिया को भी मैं मिला सकता हूँ मिट्टी में ।

× × ×

सो चुका है पहरेदार मेरा, गरजने लगी है निशा,
मेरे अँधेरे हृदय में जल-बुझ रहा है मुक्ति का शतभिषा[1]
लगता है मुझे, इस धरा को श्मशान बनाया है जिन लोगों ने
मानो उन्हीं का ख़ून चाहिए मुझे । तृप्ति नहीं उसके बिना ।
'थाने' का घंटा बजता है···
सुप्त प्रहरी, संगीन ले, जाग जाता है भय से, लाज से
लगता है, मेरी यह जागरणहीन सुप्त अँधेरी रात
क्या ख़त्म नहीं होगी ? क्या नवीन सूर्योदय नहीं होगा ?
क्या अनंत काल तक स्थायी अधिकार करके वह दख़ल
भोगेगा ?
हज़ारों इंसानों की जगह करता रहेगा एक व्यक्ति उपभोग ?
करोड़ों मुरदों पर
और कितने दिनों तक एक ही का रथ चलेगा दर्प भरा ?
ए भाई, लाखों प्रजा के मुरदों पर एक राजा की छतरी—
कितने दिनों तक तनी रहेगी, दिखाकर अपना करिश्मा ?
लाखों मज़दूरों की हड्डियों से गढ़ेंगे ताजमहल का कँगूरा
कब तक और सहेंगे अपने प्रौढ़, युवा, बूढ़े ?

---

1. शतभिषा—एक नक्षत्र ।

नरमेध यज्ञ और कितने दिनों तक चलेगा ऐसे, कहो तो !
मनुष्य का दुःख मनुष्य के सीने में अब नहीं हो पा रहा सहन।

कहो ऐ युवा दल !
मनुष्य का वह युग कब आएगा, कब बुझेगा यह दावानल ?



रचनाकाल : सन् 1936 !

मार तू जितनी भी गोलियाँ !

मार तू जितनी भी गोलियाँ
मर जाएँगे पर नहीं डरेंगे, यह मत जाना भूल !
घुड़सवार सिपाही तेरे लगाएँ जितने भी कर
खोलकर छाती का हाड़ आएँगे हम आगे।
रख अपनी तू लाठी, काठ की लाठी, हाड़ की है हमारी छाती
मौत हमारी दोस्त है, जान, पीड़ा हमारी साथी।
अपने महाव्रत को हाथी पर बिठा सिपाहियों से तलवार चलवा
गोरखा फ़ौज हमारे धन से रखी हैं तूने जितनी पाल,
ला रे सच तैयार हैं हम, आए हैं प्रण करके
एकछत्र शासन-नीति पैरों-तले रौंद देंगे।
कहना मना हो जिस देश में कोई बात, हे भाई
आदमी की जीभ काट जहाँ क़ानून करता है गूंगा
उसी देश के लोग हम आज करते हैं यह दावा
जाग ऐ सारी प्रजा, मत मरो झूठ-मूठ सोच में पड़
छाती में तेरे हाथी का बल है, उठ रे हो मदमस्त,
तेरा ही ख़ून पी जो बड़ा बना है, भागे वह डरकर।
समाज में जितने खटमल, मच्छर तेरा ख़ून हैं पीते,
मांस तेरा जो नीलाम करके आराम से हैं जीते,
देख देरा जत्था टूट जाए उसका दम्भ और बड़प्पन
हुंकार से तेरे काँप उठे कपिलास का वन।
मज़दूर वर्ग इकट्ठे होवो, आओ रे किसान ! चलो,
अँधेरा देश रोशनी करके दीया तुम्हीं जलाओ।
सीने का ख़ून उँड़ेल तुम यहाँ बाढ़ रचा जाओ
बहा ले जाए गन्दगी और ज़ुल्म जितने भी यहाँ हैं।

मार तू जितनी भी गोलियाँ
एकछत्र शासन हम पैरों-तले रौंद देंगे ![1]



1. सन् 1938 में उड़ीसा के सामंतवाद-विरोधी प्रजा-आन्दोलन के समय लिखी गई थी और उन्हीं दिनों 'कृषक' में प्रकाशित हुई थी। अनेक लोग इस कविता को गाते हुए फ़ौज की गोली खाकर शहीद भी हो गए थे।

क्रांति के जन्म-दिन पर

ला रे ला, अपनी लाल फ़ौज
फहरा रे अपनी रक्त ध्वजा ।
क्रांति के जन्म-दिन पर
हथियार अपना पंजा रे पंजा !
दिया तुझे जिसने मौत का क्लेश
फ़ैसला उसका हो चुका है
जनता की अदालत में
पा गया आज वह मौत की सज़ा ।
भूल जा इसलिए करुणा, क्षमा,
देह का बल तू कर जमा
तोपों से खेलेंगे खेल,
वड़ा मज़ा है उसमें, बड़ा मज़ा !

भात के लिए उठा रे हाथ
इस माटी के नाम लाल शपथ
ले तू आज ऐ मुक्ति-दूत !
जाग रे नव जीवन-अंकुर !
तेरा लहू लूट, जो हुआ वड़ा
चूर किया जिसने तेरी देह का हाड़
क़ब्र उसकी बना रे बना !
लाल सिपाही ! बिगुल बजा !

जाग रे जाग दलित दल
आवाज़ दे रहा लाल नवम्बर ।
आ रे किसान, श्रमिक-कुल
आ रे आ, सारी प्रजा !

रौंदकर तू सारे शोषण के यंत्र
ज़ुल्म, सितम, छल,
पहली शाम अँधेरे में जल !
पहला तारा, तू अँधेरा हटा !



स्पेन

सारी धरा की इतिहास-शिराओं में जागा है विराट् देश
घोषणा उसकी कर रहा है शोषणवाद का शेष !
आकाश में उसकी हुंकार, आँधी का बिगुल बजता है
उसकी मिट्टी में विप्लवी मन भैरव-रस में सजता है।
किनारे-किनारे उसके सुन पड़ती है नवजीवन की गीता
अतीत का शव जल जाता, मुस्कराती है श्मशान की चिता।
विपक्ष में उसके खड़ी है विश्व की प्रतिक्रिया
पूंजीवाद का भैरव रूप, निष्ठुर लाल जिह्वा।
लाखों युगों का शोषण, यातना और पीड़ा,
अस्थि से उसके चूसा है सार, करके रुद्र-क्रीड़ा !

चारों ओर से इसलिए कंकाल दूब-समान उठाते माथा
कठिन सहारा के सीने में कहते हैं जीवन की ज्योति-कथा।
मृत्यु-सागर के तट से, वह जीवन का संवाद लाता,
अखिल धरा का तर्पण माँगता है बुभुक्षु उसका प्रेत।
नूतन युग के आदर्शों का है विचारों का परिसर उसका
मध्ययुग की क़ब्र में है डूबा मुरदाघर शोषण का।
इसीलिए चारों ओर फैली है समानता की जय-जयकार
आकाश गा रहा आगामी युग के नये मनुष्य का गुणगान।
मिट्टी का मानव जागा
ध्वंस पर रोष कर आशीष-कुसुम सम वर उसने माँगा।
निर्भीक उसके तरुण-तरुणी, नव यौवन दल
मुक्ति के नाम वरण कर लिया मृत्यु का हलाहल।
साम्य के लिए सर्वहारा ने चाही समाधि देख
ध्वंस की पीठस्थली पर मानो हो
—आज उसके जीवन का अभिषेक !

दुनिया में जितने परभोजी, निहित स्वार्थ के लोग
उनके विरुद्ध सजा चुके हैं बमों की आरती आज।
धरती में हैं जितने लहू-शोषक, सड़े मांस के कीड़े
मनुष्य की चमड़ी मोच खाते हैं जैसे जोंक !
वही हिटलर, मुसोलिनी और फ्रांको, मोला के दल
मुक्ति-वाहिनी की शिराओं में वे दौड़ाते हैं लाखों तोपें,
मिट्टी में पशु-समान लोटती है श्रेष्ठ मानव जाति
अनशन और अभाव की गुफा में लगाकर समाधि।
मनुष्य का जीवन मनुष्य खा रहा, जैसे क्षय रोग...
उससे उपजी सारी सम्पदा और पूंजी व उपभोग !
दिन का सूरज डूबता है, उसे देख या कह रात्रि के कानों में
मिट्टी का कलेजा काँप उठा देख मनुष्य का अपमान
जीवन का दावा मिट जाता है
लाखों प्राणों का आग्रह मिटता है ध्वंस के बालूचर में

× × ×

अरे विश्व के मज़दूर भाई ! हँसिया और हथौड़ा-धारी !
जो भूमि तुम बनाते हो सींच अपने ख़ून औ', पसीने से,
भूख और उपवास में, उसी भूमि को माँगने के अपराध में
तुम पर गिरी है घोर नाद कर बिजली
एकजुट हो, उपवास कर, तुमने माँगा है—रोटी का टुकड़ा,
करनी चाही है ढीली मालिक के हाथों की मुट्ठी !
उपहार आज पा गए, भाई, संगीन की नोक से उसके
जूठन-सा मिट्टी में लोट रहा तुम्हारा स्वर्ण-मस्तक
जीना तो चाहा तुमने मनुष्य-सा इस संसार में,
पुरातन को उखाड़ फेंका नवीन की जय-जयकार में।
जिस मशीन में पीसे जाकर हुए हो तुम लँगड़े-लूले
पुरानी उस व्यवस्था को नहीं माना तुमने अभिमान में
उस क़सूर की सजा तो आज भोगनी ही तुम्हें होगी
रक्त में तुम्हारे रक्तवर्ण-सी है हरी धरा
विपक्ष में तुम्हारे गरजता है धरा का तानाशाही अभियान।
गुड़ुम-गुड़ुम ! गरज रहीं तोपें भैरव की तान से, शान से।
उसके साथ मिल गया गिरजों का रोष, धर्म का अभिशाप,
तुम पर ही तो लदे हैं सारे कल्पित पाप।

राजा बेटे-सा भूले थे, भाई, तुम अपना ही अधिकार...
शोषण को, भाई, स्वीकारा था सिर झुका सदियों से,
तभी, भाई, चमड़े-मिट्टी का शरीर आज तक था ज़िंदा !

अरे, अरे, बदनसीब ! क्या भूल की
तुमने मुक्ति का नशा पीकर ?
मध्ययुग के औरस से जो विधान हुआ है पैदा
मुट्ठी में रखा जिसे गिरजा, पूंजी और अभिजात ने,
उस नियम की जड़ काट तुमने कुठाराघात किया !
फल उसका तुम भोगोगे आज, होशियार, होशियार !
मुक्ति का अपराध
बुला लाया है हत्या और रण और मृत्यु का प्रमाद
मचा हुआ है देश-भर में आज कोटि-कोटि नरमेध यज्ञ
चाबुक मार रहा पूंजी, धर्म, अतीत का भयावह राग।
आगे बढ़ रहे हैं मनुष्य इसलिए, भोगते हुए उसी का फल
प्रगति में चूंकि विश्वास करते हो, तृषानल को झेलो
कान देकर सुनो ज़रा,
आ रही पुकार मनुष्य की धीरे-धीरे...
हवालात से गंभीर वाणी वह आती है क्या रे !
दुनिया के सारे भूखे-उपासे आज हो एकजुट
प्रतिशोध लेना चाहते हैं ! मानो यह कालचक्र !
आह्वान उसका कर रहा स्पेन ! भूमध्य सागर में...
टेगस् कह रही, वोल्गा को देख, यही बात बार-बार
यह रण चल रहा 'संपन्न' और 'निर्धन' में चिरकाल से,
स्पर्श से उसके स्पंदित होता धरती का कंकाल।
यह रण चल रहा बंधन और मुक्ति के बीच, ऐसा जानो !
मनुष्य ने रखा है सदियों से, भाई, मनुष्य-जाति का मान।
उठो मज़दूरो ! बड़े संकट में है तुम्हारा गणतंत्र
गंभीर रव से घोषित करो साम्यवाद का मंत्र...!
"पकड़ो हथियार, उठाओ ढाल"—बुला रहा है हिमालय।
कॉकेशस पर्वत थर्रा रहा, थर्रा रहा गंगा का श्यामल जल...
मैड्रिड-किनारे पुकार रहे ख़ुश हो सैकड़ों अशरीरी मुर्दे

"मानव जाति ! आगे बढ़ो, काट शोषण की बेड़ियाँ...
पहली मई की शपथ ले जागो-जागो, ऐ भाई,
चारों ओर उठीं हथौड़ियाँ-छेनियाँ, तुम्हारे साथ गीत गा।"
रॉल्फ फ़ॉक्स[1] कह रहा तूर्य निनाद में, "उठो शहीद...!
बुढ़ापे के बंधन कर चकनाचूर, पैरों से दौड़ो"
देखो विश्व की युवा सेना ! देखो रे सर्वहारा
नये युग के सूर्य-प्रकाश से भू-मध्य में
हो रहा जय-जयकार।
कवि मैं हूँ अपने देश में आगामी जन-मन का जय-गान।

•

---

1. गणतंत्र की मर्यादा बचाने के लिए स्पेन फ्रंट में क़ुर्बानी देने वाले यूरोप के एक सुप्रसिद्ध युवा साहित्यकार।

फाँसी का तख़्ता

फांसी का तख़्ता ! फांसी का तख़्ता !

हमेशा तूने ही खोली है न मुक्ति की नई राह ।
तेरे ही स्पर्श से मृत शहीद की लाश देवता बनी है
लांघकर अत्याचारी की शकुनि-दृष्टि कड़ी ।
तू बलि-वेदी नहीं शहीद की, तू है उसका सोहर !
नगण्य नर, आशीष से तेरे, पाता है देव-अधिकार ।
मुक्ति-पथ के सैनिक सारे, सारे वीर अभिनेता
तेरे ही मंच पद-प्रदीप के आगे हो गए विजेता
"मुरदा हुआ सरदार", फिर हो गया अमर मरकर
सुप्त देश में उसकी लुप्त वाणी ने दिया मुक्ति का वरदान।
विश्व में जितने शोषण, दलन और यातनाएँ फैली हैं
शताब्दी के किनारे इकट्ठे हैं जितने मलिन पाप,
दुनिया में जितने भूखों और उपासों ने उठाए हैं सिर
प्रतिनिधि ने अपना दिल निचोड़ तुझसे कही हैं बातें ।
करोड़ों कंकाल भिजवाए वेदी पर !
तुम्हारे चरणों पर उनके दूत
पीड़ित विश्व में जितने अभियोग हैं, उनका वह है पालक !
फांसी का तख़्ता ! फाँसी का तख़्ता !

मौन आत्मा के स्पर्श से तेरे, हुआ मुक्ति का भाट
फांसी का तख़्ता ! फांसी का तख़्ता !

मौन भीषण गंभीर तू, तू ही है सुविराट् !
हर युग में तेरे रक्त की पताका सिक्त समीर में डोले
विश्व को तूने ही तो सिखलाया मौत का मूल्य सही ।
समाज में सभी खटमल और मच्छर, डाँस के जत्थे
मनुष्य का लहू पीते हैं सदा कर कुछ-न-कुछ कौशल;

जितना बड़ा पेट मनुष्य के माँस से भर उठता है अविरत
उन सबको मार कर ही गतायु ने वरण किया है मृत्यु-व्रत,
की है तूने उसी की तो पूजा हर युग में बार-बार
गले में उसके लगायी है खींचकर फाँसी की अपनी वरमाला
समाज को तूने दिए हैं शहीद, धरती को दिए हैं वीर
अँधेरे आकाश में तभी अतुलनीय सुंदर है तेरा मस्तक
मिट्टी के मुरदे को मंत्र से तूने दिया है जीवन-दान
विजय उसकी गुंजरित होती है कर प्रकंपित इतिहास।
फाँसी का तख़्ता ! फाँसी का तख़्ता !

तेरे ही तोरण-तले न जाने कितने उठे हुए सिर कटे हैं
देखी हैं तेरी गोद में आद्य प्रभात से आज तक कई सुबहें
लाख युगों के लाख पथिकों के छिन्न सिर का भूषण
गर्भ में तेरे बुझ गए न जाने कितने परिचित चेहरे
आज इस बंदीगृह में मेरा हृदय
याद करता है उस विरह-दुख को
कई साथी, कई अंतरंग मित्र, कई मेरे सहयात्री
तेरे ही अतल गर्भ में पाईं उन्होंने प्रभातहीन रातें।
दिल में मेरे वही बात बजती है घनी विस्मृति किनारे।
वंदना करता हूँ मैं फाँसी के तख़्ते, तेरे ही चरण-कमल के नीचे
पाया तुझे लुप्त अतीत में उन्हीं फ़रार लोगों ने
सोचता हूँ आज बैठ वहीं, अमा के अँधेरे में विरह-क्षुब्ध मन से
भाग्यहीन बैठा मैं दिन गिनता हूँ इस निर्वासित कक्ष में
कौन वह सुदिन, जब मिलेगी देह मेरी, तेरे वक्ष से !
पीड़ित प्राण का संदेशवाहक मैं देखता हूँ स्निग्ध छवि
मानव की प्रार्थना गा उठता है मेरे अंतर का कवि

फाँसी का तख़्ता ! फाँसी का तख़्ता !
सुप्त देश में इंगित तेरा खोलेगा नई राह ![1]



1. 1934

भात

बहुत भूखा हूँ बाबू ! बहुत भूखा हूँ आज दो खाने को भात,
अपने मुट्ठीभर हक़ के लिए और कब तक फैलाएँ हाथ ?
जो धान हमने बोया, काटा, वही धान हमें दो आज,
पीड़ित आत्माएँ गरज रही हैं, सुनो उनकी घनघोर आवाज़ ।

चारो ओर सुनाई दे रही दुबारा उस भूखे जीवन की कथा,
धन-दौलत से भरी है दुनिया, धनी फुलाता माथा ।
ग़रीब बेचारा मरता है दोनों जून पेट के लिए खट-खटकर
पसीना-भरी उसकी मेहनत लेकर धनी उसे ठगता है
दुनिया में जितनी अपर्याप्तता, अभाव, शोषण है भरा,
शोषक के हाथों का करिश्मा है सब, धाँस शोषण का छुरा
शरीर से हमारे निकाल चुका है कंकाल और हड्डियाँ,
हाय-हाय से थर्रा उठता है धरती का चहुंओर !
आदमी का ही पैर, हे भाई, दबाए है आदमी का गला,
आदमी का ही मांस आदमी खा रहा, देखो, यह अनदेखी ।
भूख, उपास से जूं की तरह झड़ रहा है आदमी यहाँ !
श्यामला धरती बन चुकी श्मशान, बह रही ख़ून की धार ।
सोचता है मजदूर कवि :
आदमी का युग कब आएगा ? होगा उदय कब रवि !



कहाँ हो भगवान ?

कहाँ हो, भगवान ?

आकाश, पवन गर्जन कर मेरे कानों में
कह जाते, "नहीं है, नहीं है।"
जहाँ भी डालता हूँ आज मैं निगाह
वहीं देखता हूँ सिर्फ़ दीन, उदास आँखें
अन्न के लिए तड़पती लोगों की आत्माएँ
कर रहीं हाय-हाय !
कहाँ हो, भगवान ?

चारो ओर देखता हूँ, अमीर शोषण करता है,
धर्म के नाम पर हैं सारी यातनाएँ,
बहुतों का ख़ून तो लेता है चूस
मुंह से राम-नाम गाकर
कहाँ हो, भगवान ?

सबको खटाकर अपने काम में
लाभ उठाता है कोई धर्म के नाम से
धर्म है एक सस्ता व्यापार
बना है वह अमीरों के लिए
कहाँ हो, भगवान ?

राजा देवता से बड़े सौ गुने
पूर्व जन्म का फल है अमीरी
अमीरों का शास्त्र यह बात कह
चाट लेता है सिर हमारा !
कहाँ हो, भगवान ?

अमीरों का शोषण नहीं है शोषण
देवता के अंश से है उनका जन्म
सारे अवतार हैं धनियों के दुलारे
मानना होगा, भाई,
कहाँ हो, भगवान ?

महापुरुषों की ख़याली बातों से
काटे हैं हमने आदमियों के सिर,
भाई से भाई को अलगाया है
अफ़ीम के नशे से हो पागल !
कहाँ हो, भगवान ?

धर्म के नाम पर करवाया है रण
बलि चढ़ाया है समूह और गण
व्यक्ति के लिए धरा पर मौतें
पल भर में गई हैं फैल—
कहाँ हो, भगवान ?

अगले युग के लिए मरना इस युग में,
परछाईं के पीछे दौड़, जीवन किया विफल,
सत्ता हमारी लूटते हैं
देवता की दे दुहाई !
कहाँ हो, भगवान ?

धरती की मिट्टी आदमी के ख़ून में
डुबकी लगाती है अनवरत, देखो आज
देवता को गढ़ा है हमने अपने हाथों
उसी पानी में नहाकर !
कहाँ हो, भगवान ?

आदमी के ख़ून ने पुकारा है जितना
सिर्फ़ तुम्हें ही, ऐ भगवान !
इतिहास के पन्नों पर युग-युग तक.
उसके लिए तुम हो ज़िम्मेवार !
कहाँ हो, भगवान ?

अमीरों के हाथों में हो तुम एक मशीन
आदमी के धन-शोषण के लिए
तुम्हारी ही कृपा से है उसका राज्य और वित्त !
सब तुम्हारे ही हाथों में है,
कहाँ हो, भगवान ?

गढ़ा है तुम्हें अमीरों ने भगवन्
अपने स्वार्थ के लिए। है यह सच !
फ़रमाइश से उसकी तुम हो बने—
उसी की माँग के लिए !
कहाँ हो, भगवान ?

परछाइँ में गढ़कर रूप तुम्हारा
लुभाता है जो हमें अपनी माया से
धुएँ के पीछे डोल रहे हम
अँधेरे में दौड़-दौड़ !
कहाँ हो, भगवान ?

ख़त्म करने को अमीरों का विधान
(पहले) ख़ून तुम्हारा चाहिए, भगवान,
तुम्हारी ही क़ब्र अमीरों की क़ब्र है,
मौत तुम्हारी हम चाहते हैं !
कहाँ हो, भगवान ?



1. सन् 1932।

विचित्र वर्णा

गहरे समुद्र-जल में
वह हठात् मत्स्य-कन्या बनकर खेल रही थी।
वैदूर्य और प्रवाल-तोरण में
दाँतों में भींच तरंगों के घुँघराले केश
जल-जलकर फॉसफोरस की करुण शिखा में—

ऐसा लगा जैसे कि देखा था उसे
शायद कभी गंगोत्री-किनारे पहाड़ी संध्या में
शालिग्राम बटोरते समय,
या फिर कभी गुणाढ्यों के उपाख्यानों के बीच
उससे पुनः मिला था ईसा के प्रथम शतक में

या उससे पहले

विषकन्या बनकर उसने निचोड़ ली थी
मेरे होठों से जीवन की सारी सुरा
साँप की केंचुल सर्वांग में लपेटकर
पल-पल दिन-दिन माह-माह

धूसर कलस
पैरों से चूर-चूर कर मिट्टी में मिला दिया !

और एक बार मृत ममी का स्पर्श ढक्कन से
अथवा नील के किनारे पिरामिड तले
द्वितीय जन्म के साथी के रूप में
अनेक उप पत्नियों, स्वर्ण और माणिक्य,
धान, जौ, चाँदी और मृत पात्र सहित
गिर पड़ी थी वह मेरे शव के साथ
उसी क़ब्र में।

और भी एक बार
द्वितीय प्रेमी को तीर-भाले से बींधकर,
छिन्न-शीश पैरों पर उपहार दे
पाणिग्रहण किया था दलपति से
बाइसन की खाल और मृगनाभि के दहेज़ के साथ

फिर कभी
ईरान, रोम या ग्रीस के बाज़ारों से
मैंने उसे संग्रह किया था
सौ मुद्राओं के बदले बाज़ार से
या किसी सामंती राजा के मुकुट से
शत-शत मणियों के बीचवाले मणि को
पाया था मैंने उपहार-स्वरूप।

वह सब चाहे कुछ भी हो
आज इस काली रात के निषिद्ध प्रहर में···
नील नदी के बालूमय किनारे की शीतल हवा में
सर्वांग सिहर उठता है
किस मृत रमणी की विष-भरी साँसों से।
नारी और साँप और भगवान को स्मरण करता हूँ
नारी और साँप और रात्रि की हवा में।



स्मृति लेख
(स्वर्गीय भगवती पाणिग्राही के श्राद्ध के अवसर पर)

अन्धकार द्वैपायन । फिर भी तो बचना मुश्किल है बन्धु
अदृश्य तुरंग बुलाता है—जनता का उद्वेलित सिंधु
तुम्हारा ही दावा करता है—दावा करता है ज्वलन्त निशान
विश्वास और शान्ति का ।
जब आगे बढ़ना ही बड़ी बात थी,
बड़ी नहीं थी जय या पराजय ।

अन्धकार द्वैपायन
पितृमुखी यह पीपल की शाखा ।
माता हो यह नदी,
विश्वास की निर्जन खाई ।

विश्वास ? लड़कपन में खोया था दोनों ने भगवान ।
स्नेह या प्रणय या संग्राम के
(रुद्र और ललित)
सभी देवी-देवता ।
(एवं कामनाओं की लतामय वीथिका)
कक्षच्युत ग्रह-सा वह पतित
देवता-समूह
क्या कानों-कानों में नहीं फुसफुसाता
कई बातें अदृश्य कण्ठों की ?
पिण्ड, बिना पितृकुल-सा,
लाखों अदृश्य हाथ बढ़ाते हैं खपरीली अंजलि ।

हाय ! हाय ! विश्वास के रस-स्रोत
कहाँ किस जल-शून्य रेगिस्तान में

वन्द हो गए अचैतन्य में
अथवा इन्द्र-चेतना की तेज़ आग में ।
सबसे ज़्यादा क्षति मेरी हुई, चूंकि कवि हूँ।
किन्तु तुम कवि नहीं हो,
इसलिए मुझसे तुम अधिक दीर्घजीवी हो

इसके बाद प्रेरणा के स्रोत के क़ारण
यौवन की आद्य पदभूमि पर
जिसने विशाल निर्वैयक्तिक राष्ट्र वरण किये
क्या आज वह वैसा ही है ?
यदि वह होता सूर्य, तब शायद हम
और हमारे सारे वंशधर
छिटक जाते मानो तुषार के रेगिस्तान में
प्राप्त कर प्रेरणा का उपजीव्य आधार ।

किंतु हाय ! हिंसा-रक्त-मलिन धूल में
मनुष्य की पराजय में, वज्रमुष्टि शासन की मशीन में
अनात्मिक प्रयोग के चौराहे पर
खण्ड-खण्ड व्यक्तित्व की आत्मिक सत्ता को
पीसकर एक अनिवार्य साँचे में ढले
कुम्हार के चक्के में
वह ग्रह कक्ष से नीचे आ गिरेगा,
(आज की सत्ता से)

निरात्म शून्य में घूमकर
इस नकली चंद्र द्वीप[1]-सा ।।
(वह पतन हालाँकि एक सूर्य का पतन है)

1. सैटेलाइट अथवा कृत्रिम उपग्रह के अर्थ में ।

उसके साथ आ गिरेगा घूमता हुआ उसी का वाहन,
मनुष्य की श्रद्धा और विश्वास।
स्पेन[1] के आँगन में अथवा हंगरी के मैदान में
दो भिन्न युद्धों के शिविरों की आशा और साहस।
तो हम क्या करें? कहाँ जाएँ?
कहाँ है चिन्ता का आश्रय?
सूर्यमुखी मन माँगता है प्रकाश-मार्ग,
मुक्ति का उपाय नया—वास्तव, चिन्मय।

मेरे नचिकेता-मन में संशय है
उठते हैं लाखों सवाल
निरंकुश और व्यथित विस्मय।
गए थे भगवान, गया राष्ट्र।
जाएगा राज्य, शासन-तंत्र।
(एकछत्रवाद या गोष्ठी-तंत्र)
केवल एकान्त व्यक्ति रह जाएगा,
रह जाएगा उसका समाज, एकाकी, स्वतंत्र,
और उसकी आश्चर्य-संघति
प्रयोग का चौराहा लाँघ प्रकाश की स्वयंसिद्ध ज्योति
आँखों में उसकी प्राणों की अग्नि।
'एक' अभेद है फिर भी प्रतिष्ठित वह बहुधा,
वही तो अनेक है।



1. यहाँ 1938-'9 में स्पेन की जनतांत्रिक शक्ति और फ़ासिज्म के बीच हुए युद्ध तथा 1958 में हंगरी के लोक-जागरण पर रूस के आक्रमण की ओर संकेत किया गया है।

तीस के बाद

(नीता के लिए)

वर्षाढ्य जुलाई के बाद
　　　　स्तब्ध नीली इन्द्र नीली रात
जगमग सादी रात
　　　　नीली दूध से धुली, सादी मिट्टी।
नई घास की झोल में
　　　　सफ़ेद-सफ़ेद उड़ते हंसों की
छाया मँडराती है,
　　　　कितना आश्चर्य, उड़ती मछलियों के पंखों का
कम्पन-सा लगता है
　　　　समावृत जीवन में मेरे
अनन्त परिधि-पथ पर
　　　　मेरे और तुम्हारे !
सरल मराल-रेखा
　　　　तरल ईथर नील को भेद कर
धूसर आकाश के कोने में
　　　　सृष्टि करती है गति की ध्रुपदी।
क्या मैं सीमान्त रक्षक हूँ
　　　　लौटा हुआ अकेला सैनिक
यह क्या मेरी छावनी है
　　　　दो आँखों का छायालोक ?
पृथ्वी हमारी नहीं
　　　　हम दो सौर नर-नारी,
तिरछे जीवन-पथ पर
　　　　विकेन्द्रित सूर्य को साक्षी कर
प्रतिष्ठित हैं प्राण केन्द्र में ?
　　　　खुले आकाश प्रान्तर में

घर का आँगन लाँघ
दैनंदिन जीवन के प्रांगण में
तुमसे मैं मिलता हूँ नभ और
क्षितिज में
द्वार पर सप्तर्षि के।

क्या मैं स्वर्ण-सिंह हूँ
जाग उठता हूँ पहाड़-दर-पहाड़,
वन-वनान्तर में
फिर अन्धकार में—नक्षत्रों की ओट में.
(लाँघ गुफाएँ, निम्नभूमि, गीली घास
वैद्युतिक सत्ता के आषाढ़ में।)

तीस पार कर
लाँघ यह प्रात्यहिक
सीमित पृथ्वी
नये नक्षत्रों की आशा में
जल-भुनकर तुम्हारे उस
चौबीस बैशाख में
क्या मैं सोने का सिंह हूँ
तुम्हारे उस प्राणप्रिय
घने अन्धकार में
वर्षा से सुरभित केशों में
पथ भूल और पथ ढूँढ़
पुनः भूलकर पथ बारम्बार
जाग जाता हूँ, जल जाता हूँ
स्वप्न-स्वप्नान्तर में
प्रांगण से प्रान्तर तक।

जीवन में नयी बाढ़
घनघोर केश का सावन
बाढ़ के फूल से सुरभित
रात्रि, तारे, आकाश के आँगन में!

गृह से मैदान, पथ पर,
पृथ्वी से क्षितिज तक
तीस लाँघ
(क्या मैं बगुला हूँ)
स्वप्न से स्वप्नान्तर तक दौड़ता हूँ ?
प्राण के उत्ताप के लिए
हिम-जड़ ठण्ड में—
एक मूक इङ्गित से लेकर
एक स्वप्निल इङ्गित तक।



आश्विन की विदग्ध कविता

काफ़ी दिनों बाद इस बार भी आश्विन आया है।
फूलों से फूलों पर उड़, न जाने कितने ही
फूलों का दूध पी गुनगुनाती हुई उड़ जाती हैं
मधुमक्खियाँ इधर-उधर। उड़ जाती हैं चाँदनी रातें
सुनहरी स्याही-सी—
किसी विवाह के सचित्र सुनहरे निमन्त्रण-पत्र-सी
पेड़-पौधों, जङ्गल-झाड़ियों, नदी के पानी
के अक्षरों के चित्रों में।

खिल उठे हैं फूल। काँस के फूल खुसर-पुसर करते हैं
(शरद की लॉबी में
किसके आने की बातें चुपचाप होती हैं।)
हमारे पनीले मन में, मध्यवित्त बेकार सपनों में
फिर भी उर्वशी जागती है।
अनंत आँखों की नदी के कोर पर
सूख जाती है भोर की ओस

एकड़-दर-एकड़ चाँदनी से धुले रास्तों और मैदानों में
रेगिस्तानों में
उसके बाद मुरझाए तारे,
छिटक गए तीरों की तरह भोर की
दीवारों पर।
मानो
कई ठंडी-बुझती आँखों की सादी-सादी
सफ़ेद निगाह।

उर्वशी मुंह विचकाकर औंधी हो सो जाती है।
आश्विन का टूटा सिंह मूंछ पर ताव देकर पुनः सो जाता है।
सेंठे के सारे अस्त्र और कङ्गन
उतराते हैं, डूब जाते हैं।
प्रतिमा विर्सजित होती है कम्पनी द्वारा खुदवाई उसी
गङ्गा में[1]—
धारा और समय के प्रवाह में
फिर भी तो करवट बदलते हैं, जमुहाई लेते हैं,
आँखें खोलकर देखते हैं,
खड़े हो जाते हैं झाड़-झूड़कर ! कहाँ है वह निर्जनता
कामनाओं के मैदान में ?

फैलाकर अपने वदन पर स्याही-काँटे
बींधने को लक्ष्य अगणित कामनाओं के छिद्रों में
दौड़ना चाहता है मन पीछे-पीछे,
भूल-भुलैया, आशाओं का मारीच।
युग-युग के अँधेरे में क़ैद कौन-सा अनात्मिक विदग्ध कचनार

(2)

गर्दन उठाकर देखता है मानो आश्विन की जादुई शाम।
राह चलते-चलते अनजाने ही कमीज़ का बटन ठीक करते हैं।
हाथ से सँवार लेते हैं माथे पर बिखरे बाल।
भीड़ की सारी आँखें मानो आकर वाक़ई इकट्ठी हुई हैं
हमारे ही चिपके गालों पर।
थिरक-थिरक उठते हैं (उनींदी) आँखों के कचनार।
गुड़ीमुड़ी शिराएँ तन जाती हैं, फटी धोती खींच लेते हैं।
ऊपर उठा लेते हैं ढीले पतलून।
बाज़ार के भाव हहाकर बढ़ जाते हैं।
आग लगी है, क़ीमतों पर
फिर भी प्रणय जागता है देवताओं की तरह,—
उस गली के छब्बीस नम्बर के

---

1. हुगली बन्दरगाह और निकटवर्ती हुगली नदी, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा खुदवाई गई थी।

मकानवाली लड़की के साथ ! वही, पुराना, अति साधारण
निर्मल टिउशनिया प्रेम—थोड़ा-सा रोमांच, अहा !

इतनी भूख, इतनी प्यास, इतने भाव, टैक्स और किराए—
फिर भी छुट्टी के दिन "लारे ला पा"—अत्याचार से
सुन्न पड़ गए हैं दोनों कान।

इसलिए घनी रातों में बैठे-बैठे सोचता हूँ—
घुप्प रात के सोने में आश्विन का अन्तिम चाँद,
अन्तिम फूल का खिलना और
सबसे अन्त में सङ्गीत की ऋतु।
समय और सङ्गीत के मिलन में
शरद ही हमेशा बन सकता है सेतु।

शून्य से नाद का जन्म, लय का शून्य से, नाद और
स्वर की झङ्कार से
शून्य और काल का अस्त, हंस-बिन्दु आकाश-मार्ग में।
सङ्गीत के सप्त स्वरों का सुनहरा झरना
झरने लगता है आकाश के हर स्तर में।
मन-ही-मन स्वप्न-रेखा लौट आती है
सारे स्वप्न लहरों की तरह दीवार से टकराते हैं,
मन के धागे में चढ़, उड़ते हैं सारे स्वप्न पतङ्ग की तरह
मन की गरारी
खींच लाती है, छोड़ देती है उन सबको
पृथ्वी से आकाश तक,
दृश्य पलटकर।

कभी-कभी देह जागती है। कमरे के एक कोने में पड़े
टेढ़े-मेढ़े धनुष पर चढ़ाई जाती है डोरी
इसी तरह हँसते-रोते, गिरते-उठते गढ़ना पड़ता है
जीवन के चित्र को निपुणता से।

(3)

कभी-कभी ईर्ष्या होती है देख औरों को
इच्छा होती है अकारण ही गाली देने की—
इसे, उसे, सारी दुनिया-भर को,
अथवा पोतने को स्याही किसी के चेहरे पर अकारण हो
नाहक ही खिल-खिलाहट-भरी हँसी बारातियों-सी।

पीछे से किसी का पैर खींचते, यदि साध पूरी नहीं होती
यदि कुछ ठीक नहीं होता—
उधार रुपयों से ख़रीदकर पिया हुआ
कोई रसायन या टॉनिक
हानि नहीं कि करें कुछ भाग्य का ही विकास।

इसीलिए भरे हैं मैंने प्रचुर उपादान,
नाना महौषधियाँ।
समीप राउरकेला, हीराकूद, इत्यादि-इत्यादि।
थोड़ी दूर पर सिंदरी (साक्षात् सैरन्ध्रि !)
संजीवित करने नैराश्य से जर्जरित
अपने इस पराजित मन को।

फिर भी यदि यह सब काफ़ी हो चुका
उत्सव के मुखर आश्विन में—
न भरा ऊष्मा से यदि तन औ' मन
न गरमाये ठण्डे स्नायु सभी,
शरणं गच्छामि तो फिर आश्विन के अन्त में
आश्रमिक सङ्घ में या नेति की गुफा में,
या उड़ती हुई इस नीली आँधी में।



कविता की एक परिभाषा

न हो कविता मेरे बन्द गले के कोट-सी
सिर्फ़ मेरा ही पहनावा !
उड़ जाए इधर-उधर हवा में
सफ़ेद उत्तरीय-सा,
एक स्वाधीन निशान-सा हवा के झोंके में ।
मेरे गले में सिर्फ़ बँधा रहे उसका एक छोर
बाक़ी का सारा हिस्सा झूलता रहे झूले-सा आकाश में
अथवा एक तीर-सा चल जाए वह ख़ाली कर
मेरे मन का तरकस !

मैं कवि हूँ ज़मीन, मिट्टी और मनुष्य का
गाना मेरा धर्म है—इस पृथ्वी, इस आकाश की कथा ।
फिर भी मैं आज़ाद पंछी हूँ, या क्या मैं युधिष्ठिर का रथ हूँ ?
अँगुली भर ज़मीन छोड़ ऊपर बहने लगता है
समय का पथ ।
अजीब है इस धरती, जीवन, मनुष्य की गाथा
मुझे ही आश्रय दे, मुझसे ही माँगती है नित प्रकाश वह
इस धरा के विविध रङ्ग, विविध ध्वनियाँ,
सुरभित क्षण विचित्र
जो मुझे व्याकुल करते हैं, करते हैं मुझे वाक्मय, मूर्त ।

नाना प्रतीकों के बिम्बों, छन्दों, संकेतों में
पृथ्वी को ढूंढ़ता हूँ मैं
पाता भी हूँ तो खो देता हूँ दूसरे ही क्षण ।

इसलिए मेरी कविता महज़ काव्य नहीं
वह तो एक आविष्कार है, मित्र !
अपनी ही व्याकुल तलाश है।
(अथवा) वह ख़ुद को निमित्त बना
इस सृष्टि का शुभ सम्बोधन है।



चिट्ठी

चिट्ठी आई है, चिट्ठी।
सादे, हरे, नीले, पीले काग़ज़ पर।
गुनगुनाती मधुमक्खी-सी
वह चिट्ठी लाई है पुस्तकों के जङ्गल की गन्ध,
उस चिट्ठी में है किस दूर नदी का छन्द ?
किस शान्त तालाब की गुप-चुप बातें,
वह चिट्ठी लाई है आज असंख्य वार्ताएँ।
हंस-सा सफ़ेद-सफ़ेद साफ़
मन का पता लिये आया तो है ज़रूरी लिफ़ाफ़ा।

इस चिट्ठी के जवाब में यदि
भेज पाता धान के खेत से घिरी छोटी नदी

मन के कहने पर—
अथवा यदि शरद के सफ़ेद चाँद के
अभ्रक के चूरे-सी चाँदनी के अक्षर

लिख पाता उसका जवाब यदि एक बार,
तो वह ठीक होता !
कितना भी लिखने पर न जाने ऐसा क्यों लगता है—
कुछ छूट गया है—
कहीं कुछ फाँक रह गई है।
इसलिए सोचता हूँ पलाश के गुलाल की स्याही से
(कदम्ब की सुनहरी धूल मिली हो जिसमें) लिखकर
अपनी चिट्ठी भेज क्यों न दूं तार से—
चाँदनी को भेदते हुए आकाश-मार्ग से।



स्वगत (1)

इस संसार के दृश्य-पटल पर—
दृश्य और अदृश्य दोनों हिस्सों में
अदृष्ट की लिपि की तरह जो टिमटिमाती शक्ति मेरे आगे है
आगे की ओर बढ़ाती है मुझे (पीछे भी खींचती है)
क्या वह सब समाज की है ?
या किसी भाग्यशाली व्यक्ति का ताश-खेल है ?
मेरे सपने के भ्रूण को लक्ष्य बना
प्रवेश करते हैं कुश के तीर,
उन शत्रुओं के बीच मैं स्वीकार करता हूँ—
जैसे स्वीकार करता हूँ बन्धु-बान्धवियों के बीच,
आत्मीय स्वजनों या चाटुकारी पार्षद-गणों के बीच
रङ्गीन आर्ट-सिल्क का चकमक कुरता पहन पर्व-त्यौहारों में
जो भाषण देते आ रहे हैं
किसी जीर्ण-शीर्ण मासिक पत्रिका के
अनेक सस्ते चित्र भरे दुर्गा-पूजा अथवा दीवाली के
विशेषांकों की तरह।

मेरा यह विचित्र जगत् !
उसके तारे-भरे चन्द्राकाश में मैं मध्यम नक्षत्र तो नहीं हूँ।
शायद ध्रुवतारा भी नहीं,
फिर भी तो अच्छा लगता है यह सोचना कि मैं एक
उज्ज्वल नक्षत्र हूँ,
मेरी आस्था कन्नौज से लाई गई है
कुलीन ब्राह्मण की तरह। कलिङ्ग का अपना भले ही न हो,
पर हो वह उसके मुकुट का मूल्यवान् अद्वितीय हीरा।

कुछ भी हो, मेरे इस छिन्न-भिन्न
व्यक्तित्व के चौराहे पर—
नाना कारणों के बीज, नाना दुखद कामनाएँ,
कामनाओं से उपजे दुःख व दर्द के कमल।
और ऐ मेरी जीवन-व्यापी विराट् असफलताओं !
ऐ मेरी तटस्थ आत्मा के उच्चारणगण !
तुम सिर्फ़ मेरे ही हो। एकान्त नक्षत्र मेरे हैं।
तुम कल-कल करती नदी हो,
भूमिका हो—
हालाँकि
हालाँकि तुम हो—

•

स्वगत (2)

सपना टूटने के भय से
सोने का बहाना करता हूँ
दुनिया को रू-ब-रू देखने से
इतना क्यों मैं डरता हूँ !
जीवन बड़ा है दुर्गम,
सिर्फ़ शिलाएँ, कठोर कङ्कड़ हैं
इसीलिए कपट-भरी नींद
कभी-कभी
इतनी अच्छी लगती है।

मिथ्या को मैं स्वादिष्ट मानता हूँ
मृदु मानता हूँ यह अन्धकार।
समस्त चैतन्य अहा
यदि खो जाता
इस अन्धकार में
(क्षितिज में जैसे प्रान्तर !)

मेरी संहारक मूर्ति लेकर जो आता है
उसे देख चित्त यदि काम से भर जाता है,
झूठमूठ करता है यदि रति,
मेरी शुम्भ-निशुम्भ सत्ता मिटेगी कैसे,
अन्धकार में ?
रोशनी का तो वह मात्र घटना-परिवर्तन है।
मृत्यु यदि जीवन का दृश्यान्तर हो
यवनिका उठने से पहले ज़रा

बत्तियाँ बुझ जाने जैसा,
तो हाय निद्रा कहाँ ? कहाँ है भूल जाना ?

मन करता है इस शरीर को अति सूक्ष्म बनाकर
बोध-शून्य कर
बुझ जाता मैं अन्ततः अबाध
समय पर।
(शून्य में नहीं, न ही आकाश में।
क्योंकि आकाश भी तो चेतन है।
उसमें भी है गुण।)

भूल जाता सब-कुछ।
जो कुछ है,
जो नहीं—सारे सम्पर्क।
स्वयं को आवृत्त कर एक अपर्याप्त
नेति के पर्याय में।

तब जाकर चाहता शान्ति !
शान्ति ही क्यों ?
अनन्त मुक्ति !
एक शून्य विरति की लय में।
विदेही मैं शुभ्र समन्वय में।



बसन्त के एकान्त ज़िले में

बसन्त आता है ठेलकर
टकराकर मुर्ग़े के बदन से,
तोड़ अनेक शहद की सुराहियाँ
मानो मिट्टी में लुढ़का कर, फूलवन की साँझ में।

बसन्त आता तो है धकेल मरी हुई जड़ को
सूखी हड्डियों के छिद्रों में बजा शहनाई।
मेरी दूसरी राजधानी की उपशिरा से होकर
अतल सुरङ्ग और नल की गहराई में
नाना अचल व्यवस्थाओं का उल्लङ्घन कर, आँधी के मोड़ पर
बसन्त आता तो है छाया के शहर में
मेरी चित्र-प्रतिमा उसे गिनती है इधर-उधर खदेड़कर
अशान्त हवा में।

मेरे अपने दोनों रूपों में, दो चित्रकल्पों में
मन का खनिज गिनता है, सचल चैतन्य के मानदण्ड से,
असंख्य उड़ते स्तम्भों, मीनारों और उपकथाओं को
—घूमती चोट से—
अस्त-व्यस्त करता है।
नाना भागे हुए रूपों को वह
लाकर रोपता है कामुक वन में।
बसन्त आँधी-सा आता है, एक ही बार आता है।
(क्योंकि सभी अच्छी चीज़ों में बसन्त एक ही बार आता है!)
नाना नगरों में, चित्र-वनों में, प्रत्यक्ष या परोक्ष में।
हरी सीढ़ी के पायदान पर
अथवा किसी मध्याह्निक स्तम्भ की सीढ़ी पर

मेरी धातुगत परछाइयाँ इधर-उधर छिप जाती हैं।
दक्षिणमूर्ति मेरे पदचिह्न, बीते कल
अथवा कोई भी और दिन
समय की रेत-तले छिपकर
दबे हुए है अब भी,
समय के गुप्तचर और कर्मचारीगण
वह सब उँड़ेलकर पुनः रखते हैं दक्षिण
हवा के चैत्रक उद्यान में।

बसन्त शीघ्र बनाता है मुर्ग़ें के स्नायु,
हंस की आकाश-पंक्ति, पर्वत के
नीले शिलाखण्डों में चंचलता भरता है
अनेक नपे-तुले क़दमों से इधर-उधर करता है गुमराह,
चूर-चूर करता है जीवन के बँधे-बँधाए अनेक परगने।
मेरे बुझते सपनों में मेरी तिरछी
छायामूर्तियों को गिनता है।
और मेरे अन्दर के जन्तु को।
वह यूथ-भ्रष्ट करता है,
सामग्रिक (या जातीय) उत्सव-सम्बन्धी नृत्य में
कोयल के पंचम स्वर के इलाक़े में,
लौह नगरी में या फूलों के
तालुक़े में
मेरी अग्नि की चतुर्थ शिखा में
बसन्त की उन्मार्गता झरती हैं...।

यह मधुमास
अन्तिम ऋतु हो। हो वह अन्तिम
ज़िला सारे सौन्दर्य का।
क्योंकि सभी अच्छी चीज़ों में बसन्त एक ही बार आता है।
उसके आभास से नूतन नगरी की
स्वर्ण-मेखला गिर जाती है
इसलिए हो वह अन्तिम अस्त्र पुष्पित तरकस का

हो वह नूतन और अन्तिम जन्म का पुंसवन
और मेरे चरम प्रतीक का अमोघ दीपक—
अतिक्रम कर मेरी कार्बन प्रति
और मेरा सुचित्रित पङ्खा ?
झंकृत हो उसमें मेरा नया दक्षिण रूपक ।



आश्विन, 1958

आश्विन उसकी अपनी ऋतु है।
आश्विन उसकी अपनी सुबह।
यह मानो सिंह की निगाह है, साथ ही बर्फ़ीला हंस।
चुहिया, विचित्र मोर और गार्हस्थ्य उल्लू का
आपस में उल्लङ्घन कर बहुवर्ण बहुस्वर मिलन !
समय के तिर्यक् सोपान में, नवान्न के आसन्न लग्न में
यह आश्विन दिखाई देता है
स्थिति के दोनों पर्यायों के ठीक बीच गाँव में।

मेरी शिरा के पक्षी-रक्त में इन्द्रनील प्रभा खिलाये
क्या भेंट देता है धन-धान्य गोप लक्ष्मी विद्या आयु
समय के दान-पात्र में—जो मेरी अँगुलियों की पोर में
धीरे-धीरे बज उठता है,
और जो इस क्षण के सुनहरे पृष्ठाङ्कन में
उन्मार्ग की छाप छोड़ता है। रखता है एक बल की प्रतिमा
भिन्न जलवायु के बीच घेर यहाँ त्रिस्ता की सीमा !
तभी यहाँ मैं भूलता हूँ, क्या मैं ही अकेला भूलता हूँ,
अपने विशेष से सामान्य को,
अपनी भूमि की निकट भूमिका ?
यह क्या सिर्फ़ मार्ग है ? या देशीय ? या इनका समन्वय ?
मेरी शास्त्रीय परिभाषा सहित
मेरी लौकिक सत्ता का विस्मय !
यहाँ यह फूल की सीढ़ी, यहाँ यह सूर्य का उत्तरायण
अपना छाया-पथ थर्राता है या 'अहम्' का क्रम—
तो फिर यह वाद्य हो, लास्य हो मेरा बहिर्भूत
सत्ता की सीमा लाँघ, कुछ उज्ज्वल घड़ियाँ।

आश्विन को बुलाओ, आश्विन को बैठाओ बरामदे पर
आराम-कुर्सी पर,
नारंगी क्रोटन के पत्ते पर, या लता-गृह में, या नदी-किनारे।
मेरा प्यार मेरी नदी है, मेरा शस्य मेरी शक्ति है,
मेरे पक्षी-मन में
ऐ नूतन ऋतु, तुम आओ, नूतन अयन में, मेरी आत्मा के
गैरिक बोधन में।

यहाँ की दीवार पर, यहाँ के आकाश में, यहाँ के शहर, गाँव में
मैं देखता हूँ छल-छल, ढुल-ढुल अगणित नीले शैशव में।
और नदी-सी प्राणमयी दक्षिणास्या मातृमूर्त्तिमान,
दीपशिखा-सा बदन, अन्नकूट-सा अहा मातृ-स्तन।
अस्पष्ट आकार सारे, रूप सभी लच्छेदार
प्रदीप की प्रकीर्ण ज्योति,
अनेक घटनाओं और स्थितियों
के नाट्य रूप जिसमें हैं लिखे,
इतिहास के हाथों से पलक झपकते ही छूटकर
मचलती है आज हृदय की, चेतना की कोठी।
पर यह तो फिर वुझ जाएगा। दिखेंगे दूसरे दिन, और रातें—
ज़मीन के नीचे किसी मृत सम्राज्ञी के गले के रत्नहार-जैसी।

आश्विन को बुलाओ, आश्विन को लिवा लाओ
आनन्द के, चेतना के घर।
अक्षत रंग के बादल, सफ़ेद हंसों के झुण्ड, सफ़ेद जूही
उसको प्रतिध्वनित करती हैं।



स्मृति-लेख

गोधूलि आकाश के पोस्टकार्ड के गाल पर
'कुशल से हूँ, आशा करता हूँ, सकुशल होंगे"—वाणी।
हठात् याद आई वह विस्मृत नगरी
(कालिदास की नायिका-सी वह...)
वह वैकल्पिक नारी

पत्थर-व्यथित गति पहाड़ी नदी-किनारे
असंख्य प्रासादों के बीच
एकान्त में और कोलाहल में, दिन गिनती है।
उसके गोरे विवर्ण गालों पर
बिदाई के समय की छाप।

उसका स्पर्श,
उसके बदन की गन्ध और पिघला हर्ष,
लीलापूर्ण स्त्रियोचित ललित इस्पात,
आँखों की मोरनी-सी मुद्रा
अगणित कामनाओं की अनिद्रित नीलाभ चौरङ्गी।
याद आती है, याद आती है, याद आती है
अति दूर
फल-भरे जामुन-वन की छाया के बीच
वह मेरा दशार्ण[1]
ग्राम है।
नाम है
मेलबोर्न।
मेरी प्रिय नगरी।

---

1. दशार्ण ग्राम—कालिदास के 'मेघदूत' में वर्णित एक गाँव विशेष। कवि ने आस्ट्रेलिया की मेलबोर्न नगरी में कई महीनों तक निवास किया है।

आकाश

तुम्हारे चेहरे पर फेंका था मैंने मुट्ठी-भर आकाश।
सोचा था—सपना देखोगे, अन्यमनस्क होगे
अँधेरे में बैठ नाखून से खींचोगे लकीरें।
जैसे क्षीण प्रतिपदा।

तुम्हारे बदन के ललित गिरि पर
खिल उठेगी सीता—उसकी मूर्त्ति...
अथवा ध्यानी अक्षोभ की शुभ्र परिमिति।
अथवा सम्भव है, बदन-दर-बदन गूंजेगा
वज्रयान का नवगुंजर छन्द।
दलित कामनाओं की धूमवह्नि में नूतन चर्यागीत।
काया अथवा चैतन्य का होगा जागरण।
(देवत्व हो या पशुत्व हो)
हो वह नभ-शिखा
या किसी मनोहारी की अतल खाई
जो भी कुछ हो,
सोचा था, जाग उठोगे तुम।
पाकर नया उद्बोधन।

किंतु हाय ! हाय ! यह क्या हुआ ?
तुम्हारे हृदय के कोरे काग़ज़ पर बनने लगीं नित रेखाएँ।
परन्तु तुम्हारी जड़ता बनी रही।

मुरझा गया आसमान,
अहा, बुझ गया चैत माह।
मन्दीभूत जीवन का क्षयिष्णु द्वापर...।



एक फागुन

मेरे तरु की डाल-डाल पर फूलों का इशारा—
जो फूल-फल को पुकारता है।
मेरे मन के कमल-वृन्त को छूता है सँपेरे का गीत
जो कमल ललिता के हृदय में है।

आई है प्रमिला रात सहेलियों के साथ
गली-गली में फेंक लाख धनुष के तीर।
आई है आदिम ध्वनि लौट फिर एक बार
मिटा लोहे और टीन की सारी झङ्कार।

इसलिए सोचता हूँ, मेरे ये चीनी मिट्टी के दाँत
आँधी के थपेड़ों से यदि ठक्-ठक् बजते हैं, प्रवीण चैत
यदि मुझे भयभीत करता है,
मैं ही एक कामना का विकल किसान हूँ
यदि होऊँ भूमि-च्युत,
यदि मैं त्रिकोण भूमि-सा हर बार
बाढ़-ग्रसित होता हूँ—
बह जाता हूँ
अनादि ग्रीष्म की शर्त से
बारिश के आवर्त में,
यदि मैं ललिता को पा भी जाऊँ !

स्थिरमन, कमल-वन, डूबता-उतराता चाँद
दरारों में पनीले अँधेरे की ढेरियाँ।
आसमान में शोक-छाया, मानो वह
किसी असमाप्त शोक की पोशाक है।

प्रत्यूष, मध्याह्न,
पलाश की आग सेंकता है उत्तेजित कीड़ा,

चेतना के चौराहे पर ।
जङ्गल-जङ्गल शहद की महक ।
उसके बाद गोधूलि ।
स्कूल से लौटती किसी थकी-माँदी किशोरी की
मुसी हुई साड़ी-सी।
रहने दो, रहने दो, अधिक पृष्ठ पलटने से क्या लाभ
हर पृष्ठ पर वही चिह्न है।
पग-पग पर वही एक खनक है।

यह ध्वनि, यह रङ्ग यही पञ्च ज्योति
मुझे बुलाती है।
न मैं कवि हूँ, न ही पतङ्गा।
मैं किसी दुर्ग की
खाई की तरह परित्यक्त तो नहीं।
गन्ध और रङ्ग
और सङ्गीत-लोक में
मैं एक प्रदीप्त शान्ति हूँ।
किसी पुष्पित अरण्य से घिरी गहरी गुफा में
पङ्ग अक्षरों में लिखे एक मन्त्र-सा
क्या वह मैं हूँ ?

रङ्गीन रहस्यमय एक प्रार्थना-भरी भूमिका !
भागे हुए समय का मैं भी एक चिह्न हूँ।
मैं ख़ुद ही फागुन हूँ।



सीमान्त ट्रेन

हथेली की लकीर-सी विचित्र-लाइन से होकर
सीमान्त की ट्रेन जाती है तरङ्गों-भरी रात में नहाते हुए।
नक्षत्र-लहरें तोड़ इस निअॅन रात्रि के प्रहर में
एक पल-सा, या एक मील-सा,
मेरा जीवन, कई-कई ज़िन्दगियों का केन्द्र भेद
यह ट्रेन दौड़ती चली जाती है

मानो शैशव से
एक नीले फागुन से अन्य एक फागुन तक।
जहाँ पृथ्वी एक दिन, अथवा पल-भर, अथवा मील-भर है।
अथवा समुद्र से छुई हुई थोड़ी-सी घास,
नितान्त निर्जन सीमा तक

मुझे लिये हुए, मुझे छोड़ सीमान्त ट्रेन चली जाती है।
मुझे जो ढूंढ़ती फिरती है पृथ्वी पर, ढूंढ़ते-ढूंढ़ते जो
हर कमरे में जा झाँकती है, उसी क्षण मैं
वहाँ से चला गया होता हूँ...

वे कुछ भी नहीं हैं, उनके लिए होना, न होना एक-सा है।
हरे शैशव के दिनों से विचित्र नाना घटनाओं में
रहस्यमय द्वीप में कहीं, अपनी सत्ता के निर्जन मैदान में
मैंने किया है, अथवा मेरी तरफ़दारी करके
करवाया है किसी ने।
मैं दौड़ा जा रहा हूँ अथवा वास्तव में मुझे कोई
दौड़ाए चला जा रहा है,

लेकिन मैं वहाँ नहीं हूँ, जहाँ कुछ क्षण पहले
खड़ा था देश-काल-पात्र के बीच।

फिर भी सुन्दरतम दूरी तो बाक़ी है—
ऐ नक्षत्र ! ऐ समय ! ठहरो, ठहरो !
तुम्हारे साथ चलूंगा मैं यहाँ रुके बिना।
जिसे 'यहाँ' कहते हैं, जिसे मैं सोचता हूँ इसी क्षण,
उन सबकी न जाने कितनी बार मैंने प्रदक्षिणा की है
जिसके गर्भ से गढ़ा है मैंने भय, समय
काल की शाश्वत गति तहस-नहस कर, रोक कर
ठहरो, ठहरो, ऐ नक्षत्र और भय ! ऐ समय !
और ऐ अवर्तमान !

मुझे पुकारता है सीमान्त का, कालान्तर
अभय आह्वान।

निकट का हवाई-अड्डा। वहाँ की मृच्छकट धूल
मुंह में घुसती है, आकाश से सुनाई देती हैं ढेरों शहनाइयाँ—
जिस ऊँचाई से मनुष्य की असह्य क्षुद्रता जान पड़ती है—
अति तुच्छ, जीर्ण और भंगुर
श्मशान के एक नरमुण्ड-सी।
जिसे फोड़कर फ़ायदा नहीं, क्योंकि
और किसी शत्रु की आँखों में क्या
वह फिर नहीं प्रकट होगा
कुछ समय बीतने पर ?
क़रीब बंदरगाह है।
यह ट्रेन जोड़ती है हवाई अड्डे या बन्दरगाह से
या किसी मृत्यु की छावनी में
आवर्तित करती है और एक मृत्यु से,
शहर की तलहटी में।

यह ट्रेन दौड़ती चली जा रही है सीमान्त के पार—
पार कर,
हमारे ही निर्णीत, स्थिर भूगोल के घर।
यह ट्रेन चलती चली जा रही है प्रहर-प्रति-प्रहर
पल-प्रति-पल, काल और नक्षत्र-स्रोत से

मेरे प्राण के स्वर-वर्ण में मिटे अनेक मौन स्वरों में
मेरे जीवन में खोये अनगिनत जीवन के
प्रत्येक शब्द से हो
यह ट्रेन जो खो जाती है, बिला जाती है।
यह ट्रेन भगाये लिये जा रही है कुतूहल से
एकाकी नक्षत्र-तले।



उन्होंने मध्याह्न में देह त्यागी

(डॉ० विधानचन्द्र राय की मृत्यु पर)

उन्होंने मध्याह्न में देह त्यागी।
सूर्य जब मध्य बिन्दु पर थे।
गजदन्त पलंग पर बैठे देवगण उन्हें देख रहे थे।
स्वयं सूर्यदेव शहर के मोन्युमेण्ट-तले
खड़े थे।

नींद की प्रचण्डता कभी जानी नहीं पलकों ने,
जिस महास्वप्न ने कभी भोगी नहीं चकाचौंध—
अवस्था से समय में हो गए लीन,
अथवा आकाश के विकार से आकाश में हो गये विलीन,
उस महानिद्रा में अचेतन
वे हो गए।
मध्याह्न में उन्होंने देह त्यागी।

स्थिर गोलदीघी, आदिगंगा।
स्टीमर और ट्राम, बसों की चीत्कार,
गाड़ियों के घने ताँतों से थर्रा रहा शहर
भीगी घास पेड़-पौधों पर बिन्दो-बिन्दो धूप,
मटमैले बादलों की धूप-छाँव,
धूप और पानी की उस स्तब्ध दुपहरी में
प्रबल प्रहर में
हठात् उन्होंने प्राण त्याग दिया।

सबसे अधिक कार्य-व्यस्त, सबसे ज़्यादा थका हुआ
सारा शहर,
अस्त-व्यस्त स्टेनोगण,
ललाट का पसीना अपना हथेली से पोंछ

टेलिफ़ोन-वाला जो शायद सुस्ताती है,
ठीक उसी समय
नगरी के एक कोने में, एकान्त कमरे में
एक महास्तब्धता के तुषार तम्बू में
बर्फ़ की मूर्ति-सी वे सो गए !

किसी अन्य गली और अन्य घर में
अस्पताल में, प्रसूति-गृह में
शुभ्र श्वेत नर्स के हाथ में एक नया शिशु काँपता है।
भला कहाँ अन्तिम मुलाक़ात है अन्तिम खिड़की में,
विविध कोलाहल,
सैकड़ों आगन्तुक और विदाई की पदध्वनियों से
निस्सङ्ग शहर का पथ काँपता है
जैसे दुःख ही शहर है।

करुण दिन की आँखें होने लगती हैं साफ़,
अनेक घरों, अनेक बरामदों में तुम्हारे फ़ोटोग्राफ़ पर
महीन दिन की ज्योति झरती है।
बिदाई ! बिदाई ! पृथ्वी ! बिदाई ! नगर !
मध्याह्न में उन्होंने देह त्यागी।
उन्होंने मध्याह्न में प्राण त्यागा।



महायात्रा

(एक बन्धु की मृत्यु पर)

रात्रि-रति का ह्रास हुआ, सूर्य की ज्यामिति,
पृथ्वी के नाभि-चक्र में बनता है अग्नि-वृत्त,
लाखों बिन्दुओं की समिति।

मृत्तिका की भौगोलिक सीमा
प्रेतायित सदी की अवसान-कुटिल देशान्तर रेखा
इन सबसे परे
तुम्हारा धूसर कण्ठ, ऐ जटायु !
आज बार-बार चोंच काटता है।
तीक्ष्ण अभिमान से।

इससे पहले तुम कई बार
मरे हो, मरे हो, साथी, मरण का दीर्घ स्वयंवर
वरण किया है तुमने ?
फिर सैकड़ों योनियाँ प्रसव-व्यथा से
फट पड़ी हैं।

सैकड़ों स्तन तुम्हारे बिना सींचते हैं माटी।
पैरों में तुम्हारे करते हैं नमन जन,
सङ्घ तुम्हारी माँगते शरण।
पीछे धर्म-श्वान
चलता है चुपचाप।

महायात्री ! पहाड़ के शव में
सूर्यास्त-अनल
लगा है, लगा है आज, लाक्षा-गृह का

होगा अवसान ।
हे रक्त ध्वज !
माटी के आत्मज !
माटी की गोद से तुम आओगे निकल
नेपथ्य-विहारी
जैसे तृण मृत्तिका का भ्रूण ।



उत्तरण

बीत जाने दो यह साल भी,
पिछले साल की तरह।
अथवा सैकड़ों सालों की तरह।
कछुए-जैसा।
परन्तु एक क्षण ध्रुव हो,
निरंकुश हो।
वह क्षण यह अथवा कुछ अन्य हो—
कछुए की आँखों की तरह जगमग
वह जलता रहे
कीचड़ की तपस्या में।

नक्षत्रों के स्वर वर्ण-सा नीले रूमाल में।
वह क्षण पैदा हो तृषित होंठों पर
भय के पाँवदान या विजय की सीढ़ियों पर।
वह क्षण पैदा हो अतीत के जमा-खाते में
ख़ज़ाने में

अथवा आज के इस प्राथित प्रहर में
टकसाल में
चमाचम चिल्लर की तरह।

हो चाहे वह रणक्षेत्र, अथवा मधुशय्या,
वह प्रेम हो, अथवा विजय हो,
उच्चाटन हो।

पर हो वह एक उच्चारण
जलती शिखा का।

उत्तरण, एक उत्तरण।
(मुक्ति का व्यापार कर मृत्यु का किङ्कर)
और सारे महीने, साल,
दिन, दण्ड, पल
निष्फल हैं, निष्फल हैं !



बर्गी[1]

काले घोड़ों, सफ़ेद घोड़ों, धूसर घोड़ों पर
दबे क़दमों या हठात् चक्कों में
असंख्य बर्गियों की क़तार आवाजाही करती है
मेरे मन के समतल-अतल मैदान में

केवड़े की पंखुड़ी-सी पीली पनीली धूप
समतल मैदान के किनारे।
बरछे उनके चमचमाते हैं।
विभिन्न देशों की मुद्रा सोने और तांबे की
कई-कई राज्यों के निशान और चिह्न,
बड़े-बड़े मुक्ता के खण्ड
थैली में उनके।

लम्बी-लम्बी पगड़ियाँ और घनी-घनी मूँछें
मेरे दिल का नक़्शा काँपता है
अनेक बाज़ारों में और नारियों के चिकुरों पर।
हाथ उनका चमचमाता है।
बर्गी आता है, बर्गी लौट जाता है।
कभी यह महानगरी थी उनकी छावनी
यहाँ के चकत्ते-चकत्ते नक्षत्र-पुंजों की धूसर मृग-सन्ध्या में,
बरछे उनके झलक उठे थे,
युग-युग के अँधेरे में एक क्षीण दियासलाई-जैसे।
यहाँ के जलाशय में ऐ लुटेरो,
कहो तो, तृष्णा तुम्हारी क्या बुझी थी !

•

1. प्राचीन आक्रमणकारी मराठा अश्वारोही।

प्रार्थना

मुझे बना लो तितली
अपने बग़ीचे की
हे कुसुमाकर,
दो मुझे क्षुधा मील-भर,
शहद की सुराही और
पंचम स्वरों की
नीली-नीली एक शताब्दी।

दो मुझे सौरभ का एक
परगना
हे सम्राट् !

दो मुझे एक ख़ाली ग्राम।
इस नन्हीं-सी नदी की
कल-कल ध्वनि
सुनाई दे जहाँ अविराम।

सारे फूल, सारे तारों,
सारे प्रेम के बीच
दो मुझे एक ध्रुवतारा,
हो वह प्रतिमा या रूपक,
मूर्च्छना,
हो किन्तु एक बुलावा
प्रेम के एकान्त कुंज से।
ऋतुराज !
दो मुझे तुम पुष्प-धनु।



पूर्णिमा में महानदी-किनारे

महानदी का किनारा।
तट के बरगद के
घने पत्ते
रोकते हैं चाँद को।

क़रीब बिजली के खम्भे से सटकर
सोयी है एक सफ़ेद गाय।
मील-भर चाँदनी
नदी के मोड़ से
पसरी हुई है मुहाने तक
ओर-छोर नहीं

बह आती है एक राजहंस-सी नाव,
सादे डैनों से खेकर पतवार।
ऐसा लगा,
उस पर बैठी है मेरी माँ,
(जो नश्वर शरीर में नहीं)
एक सफ़ेद साड़ी पहने
विराट् है वह जैसे एशिया।

झक-झक घोंघे और रेत...।
नाव चलती जा रही है।
पार कर एक-के-बाद एक
मीलों-फैली चाँदनी।
नदी का पठार खिलखिलाकर हँसने लगता है।



नदी

वह एक विवस्त्रा नदी,
ढूंढ़ती फिरती है क्षण-क्षण नूतन परिधि
और एक बालूघर
जिसे वह चाट सकती है।
और घोंघे की कई गुड़ियाँ,
जिन्हें वह तोड़ सकती है।
प्रवाल की सुहाग-सेज बिछा
हालांकि तुम नाहक ही कान दिये हुए हो
उसके आने के लिए।
सम्भवत: वह आयी थी
वैदूर्य के तोरण से होकर,
एक छोटे नूपुर की खनक-सी।
कब ? किस तरह ?
जानकर कोई लाभ नहीं।

वह एक निर्जन नदी है।
अपने पथ से बड़ी।
इसलिए उसके पाने में
चाह की अपूर्णता नहीं है।
असहाय द्रौपदी-सी वह जो कुछ चाहती है,
सारा कुछ उसकी आँखों में मोती बन
दूसरे ही क्षण कहीं विलीन हो जाता है।
वह जैसी नदी थी,
वैसी ही नदी है।
अनन्त जिज्ञासाओं के बीच
एक ध्रुपदी।

•

दूसरे शहर का आदमी

दूसरे शहर से आए थे अपरिचित सज्जन।
एक सज्जन।
(बस, इतना ही उनका परिचय है)
आँखों में उनकी खारी नदी की हवा और भय।
बातें सीधी-सपाट,
बिल्कुल दो-टूक।
उनमें नहीं है हमारी तरह घुमाव।
और कमीज़—

उस पर पड़े हैं दो-एक लाल-लाल छींटे।
शायद बिदाई के समय के सिन्दूर के चिह्न हैं।
कुछ अटपटा-सा लगता है उनका उच्चारण।
(अन्तिम शब्द ज़रा भी प्रकाश्य नहीं)

और व्याकरण—
कर्त्ता कभी छोड़ता नहीं क्रिया का साथ।
उस सुदूर पर्वत का एकान्त सुनसान
तड़बन्ने की छाया और चढ़ाई-भरे जंगल,
हाँफते और चढ़ते-उतरते रंग,
वहाँ का मौसम
छोड़ गया है निशान।
धोती हालाँकि बनी है मद्रास में,
फिर भी यहाँ वैसी किनारी कहीं देखी नहीं।
क़लम हालाँकि यहाँ का नहीं है बना—
याद नहीं आती देखा हो वैसा ही कहीं और।
उस क़स्बे का कोई दुकानदार
कहीं से लाया हो यहाँ, ऐसा नहीं है,
(वहाँ की चीजें वहाँ कुछ ही हैं,)

उससे अच्छी, उससे बढ़िया
यहाँ हो सकती है।
लेकिन ठीक वैसी ही
हठात् पाई जा सकती है ?
शायद कुछ खो गया है
वे सज्जन व्यस्त हैं ढूंढ़ने में।
एक सिफ़र ले गया कौआ,
शायद वह सूटकेस की चाबी है।
अथवा कोई ज़रूरी तारीख़ हो सकती है।
(क्योंकि यहाँ उन्होंने
पढ़ा तो था दो वर्षों तक आई० ए०
बीस वर्ष पहले।)

वे सज्जन आये हैं दूसरे शहर से।
पीछे वह काफ़ी रास्ता छोड़ आए हैं, वाक़ई बहुत दूर।
आँखों में उनकी खारी नदी की रेशमी हवा का
एक हिस्सा लगा है, मूंछ थर-थर काँप रही है।
जङ्गल के चढ़ाईदार रास्ते, ढलान सारे गिनकर
कई प्रचलित भाषाएँ और क़ायदे वहाँ के समाज से
ले, उन्होंने पोटली बनाई है ! कितनी दूर की बातें
आई हैं दूर राहगीर के साथ, बनकर उसका छाता।
खो गया है शायद कुछ, हो सकता है, वह चाबी हो
अथवा किसी धागे का छोर, अथवा और कुछ !
हो सकता है कोई घटना भी, अथवा कोई लकीर,
अथवा किसी स्मृति को रेखा,
मन की किसी सूखी नदी की धारा।



नदी को एक दरवाज़ा

यह कोठरी जहाँ मैंने भोगी नहीं विशेष यन्त्रणा,
जिसकी बीच खिड़की से दीखती है पेड़ों की कटाई,
जङ्गली रास्ते, और पहाड़ का गंजा गुम्बद
जहाँ सुबह का पक्षी उड़ जाता है लौट आने को,
और जहाँ से दीखती है
प्रातःस्नात एक केन्द्रीय प्रतिमा की छटा।
क्या मैं उस वक़्त घुटने टेककर
मन-ही-मन कहता हूँ—यही है वह, यही है वह !
उसी का तो समय है यह।

नदी का निर्जन पुल धुआँ और कोहरे से हिलता है।
टेबुल पर ऐशट्रे खाँ-खाँ करता है,
फूलदानी रूक्ष दिखती है सूखे और अर्थहीन फूलों से।
एक लकड़ी से लदा ट्रक चला जाता है, लौट आएगा फिर।
अधकटे पेड़ की डाल पर लटका है उसका तिरछा रुटीन।
निःस्तब्ध पठार पर एक जगह खड़ी एक गाय
आँखों की शून्यता से नापती महाशून्य का छप्पर।

एक-एक कर आती है नाव बहलाकर
(लाल-लाल) पलाशी पानी।
छोड़ जाती है झुण्ड के झुण्ड क़स्बाई नर और नारी।
फ्राक पहने छात्राएँ, कुली, मजदूरनी, बारात, बस-यात्री।
छींट के कपड़ों, धोती और साड़ी के रङ्ग से पानी का रङ्ग
दीखता है लाल, नीला, सादा, बेंगनी।

पुल निर्मल दीखता है, कोई अकेला राहगीर
भोर को जोड़ देता है अस्त-व्यस्त दिन के बदन से,
कहाँ है नदी ? क्या नदी नहीं है ?
लगता है यह नदी घर लौटते समय की उल्टी छाया है
जोड़ा है जिसने मुझे
उस केन्द्रीय प्रतिमा से ।



एक प्रेम की मृत्यु

तुम्हारे ही प्रेम का स्वर इसराज की तरह
बह आता है दूर से सुदूर तक
नदी बनकर, यहाँ के हंस की शुभ्रता में
काँस के फूलों की मर्मराहट में।
यहाँ का कदम्ब हो स्मृति का स्तम्भ
समय का विरोधी स्थावर
एक मृदु सम्पर्क का स्थिर दृष्टिकोण
प्रचलित स्थिति स्थापक की।
प्रेम हो एक-एक करबी का उल्लास
भिन्न-भिन्न समय में खिले,
एक-एक स्वर में उसके सुनाई देता है, बज उठो
मेरे मन के हर क्षण में।
(कभी-कभार बेसुरा होकर सही।)

सफ़ेद बैण्डेज के नीचे से कई क्षण
मुझे आज साल रहे हैं रह-रहकर,
आज की वास्तविकता हो यदि एक बाधा
तीक्ष्ण किसी काँटे का विग्रह।
यहाँ की घटनाएँ और ये मिनट
यदि हो सकते हैं प्रतिकूल
बक़ाया ऋण की तरह, पिन की तरह
कर सकता है व्यर्थता का वार
दीर्घ आलिङ्गन तुम्हारा, हाथों की ऊष्मता
और वही ललचाई साँस
एक रूक्ष काग़ज़ अथवा शब्द का टुकड़ा
कर सकता है जटिल, निष्प्राण!

एक टूटे बटन का किनारा
बेसुरी खीझ-भरी आवाज से यदि भर दे
मन का आषाढ़
लम्बी-लम्बी अँगुलियों के पोर से यदि देखते-देखते
बह जाए तिरछा समय
भूली स्मृतियों का चाँद सपाट रेत पर
घोंघे और पदचिह्न ही परिचय हैं।



पतित-पावन

खाने का आर्डर दे होटल की टेबुल पर
हाथ पर सिर रख दोपहर को सोये हुए
उस मोटे आदमी की तरह, नींद जिसकी प्रायः हास्यास्पद,
और जागरण केवल रोना और झुंझलाना है।
उसी तरह यह समय है। ज़ंग-लगे एक लोहे की मशीन-सा
चालक को परेशान करता है और उसे सुधारते समय
हाथ कट जाए तो होने लगता है टिटनस का भय।

इसलिए यह समय एक विधवा की व्यर्थ स्मृति-सा
उसी को चिढ़ाता है, और फिर उसे ही लौटा देता है
उसके मन का चुराया हिस्सा, सारे अपभ्रंश,
अकौमार्य के स्वप्न, सुनिश्चित बातें और सादा इतिहास।

तथापि नीले क्षितिज में पताका फहराता है जैसे कोई राजहंस
मध्याह्न के प्रचण्ड सूर्य की नज़रों में निस्सङ्ग, अपाप,
असंख्य ट्रॉफ़िक और चौराहे के अकेले कान्स्टेबुल के
हाथों के संकेत के समानान्तर हो उड़ता है फर्र-फर्र।
नील-चक्र धू-धू कर जलता है, दुष्यन्त के सद्य-जागरित
स्मृति-लेख सा। असंख्य भिखारी (साधु-सन्त) नगर-जनों में
छाया फेंक दूर से ही।
नीलाचल से, उस विवस्त्र करुणा का चिट्ठा खुला रहता है
दिन-रात, करुणा—करुणा से नहा लेता है सारा विश्व—
उस करुणा-समुद्र में, असंख्य घोंघों की तरह।
वह करुणा-सिक्त करता है भयभीत-सा
गरुड़-स्तम्भ के पिछवाड़े
अनेक रेत के केंकड़ों को वह बचाता है
ग्रीष्म के बरछे की मार से।

जो करुणा हो सकती है साँवली बरसात स्निग्ध सावन में
वह मार्तण्ड भी होती है बैशाख का, और क्रूर वैश्वानर भी।
जो होती है वसन्ती हवा, वही प्रभंजन है सृष्टि की क्रिया में,
उड़ जाएँ यदि तृण, पत्ते, वृक्ष, प्राणी, मकान,
उसका कुछ नहीं बिगड़ता, क्योंकि वह करुणा है।
और वह करुणा केवल कुल योग फल ही विचारती है।
सर्वाधिक मंङ्गल ही उसका काम्य है इस धरा पर।

इसलिए उस करुणा से मैं डरता हूँ। डरता हूँ
दुनिया के सभी इकट्ठे, एग्रिगेट, टोटल अथवा
सैकड़ा इत्यादि-इत्यादि, गणित के निष्पाप सूत्रों से।
जिनके मूलाधार, प्रभु, तुम ख़ुद ही करुणामय हो,
व्यक्ति और व्यष्टि जहाँ दब जाते हैं लोगों की भीड़ में।

करुणा तुम्हारा वृक्ष हो। हो वह सान्द्र, घनी,
एक अति अन्तरङ्ग छाया और छाया-नीड़।
वह करुणा स्पर्श करती है हर दुःख को हरेक के
(यहाँ तक कि किसी एक के कुल मिलाकर
होने वाले फ़ायदे को न देख)
हरेक दुःख की इकाई निस्सङ्ग सैनिक की तरह आमने-सामने
हो तुम्हारी करुणा एक क्षुद्र स्वतन्त्र किरण की,
करुणा भी उन्मुक्त, विभक्त हो सैकड़ों किरणों में (न रहे
वह जमी हुई वर्फ़ के टुकड़े-सी एक सामग्रिक सत्ता)
ऐसी करुणा कहाँ दुनिया-भर में, कहाँ है वह करुणा
जो केवल प्यार से ही कम हो तो हो सकती है,
नहीं तो जो अन्य सारे गुणों से काफ़ी बड़ी है।
पतित-पावन जो पतितों के सङ्ग रहता,
कृपा की कड़ियों से माला बनाता है।
सुनसान पुल पर गोधूलि में चिट्ठी बाँटकर
पस्त हो लौटता परिचित पोस्टमैन-सा
पहचान सकता है अपने टोले के हर आदमी को
हरेक के लिए जो लाता है (कुछ-कुछ) अलग-अलग ख़बर

सुख को, दुःख की। और उस ख़बर के साथ कुछ अधिक
अपना निजी सुख-दुःख, लम्बी साँसें अथवा कुछ ख़ुशियाँ,
नहीं चाहता जो उद्धारक बनना, नहीं चाहता दाता कहलाना
फिर भी वह जानता है हरेक पता, कौन है, कहाँ है।

वह करुणा यदि न कहलाए करुणा-सागर,
कहाँ तक यह ठीक है,
हे प्रभु, तुम्हीं विचारो !



वृत्त-भंग

चलो, भूल जाएँ हम
सनातन त्रिभुज को
खड़े हो समतल मिट्टी की सीढ़ियों पर।
आसमान के तारे और मिट्टी के घास के फूल
बुलायें, हाँ बुलायें।
खड़े होंगे कान, डरकर सुनेंगे वह आवाज़।
यात्रा करेंगे
दो समानान्तर
सरल रेखाओं-सी
भूर्ज-वन की ओर।
पढ़ेंगे वहाँ
दमयन्ती की चिट्ठी।
सेकण्ड शो से लौटते
बेसब्र दम्पती की तरह,
कोई जल्दी नहीं।
हमारा घर लौटता मन
गाता है वृत्त-भङ्ग के गीत।



मृत्यु

तुरन्त सेंकी हुई ब्रेड की तरह
मेरा ग्रास करती है मृत्यु।
मृत्यु मानो
जङ्गल का वह मख़मली-बदन बाघ है
जिसका मरना कभी किसी ने नहीं देखा।
लेकिन हमने देखा है उसका शिकार,
देखी है उसकी बलि।
हिरन, बैल, बकरी,
भैंस, गैंडे,
मयूरवर्णी घोड़ा,
तोते के पेट-सा विचित्र तुरङ्ग,
नील गायें,
जिनके बदन पर उसके पंजों के निशान,
उसके दाँतों के चिह्न।
मृत्यु पीले ऊन पर काला तिल है,
शक्तिशाली बाघ है।
कभी-कभी उसकी गन्ध मिलती है
(क्योंकि मृत्यु में भी गन्ध है)
क्या आमिषी मछली की गन्ध में कमल की गन्ध मिली है?
लेकिन हमने कभी नहीं देखा
कभी किसी पेड़ के नीचे जङ्गली घास पर
पहाड़ की छाया अथवा झरने के किनारे
उसे प्राण त्यागते
हम उसे मार सकते हैं,
किन्तु वह मरने वाला नहीं।



लेनिन

सारी जनता का निशान है लेनिन
लेनिन है जीवन-ज्योति ।
वह एक स्वप्न-धूसर गोधूलि,
(और) वास्तविकता का टीका है ।
स्वप्न से बढ़कर वह जो दूर की
वास्तविकता के निकट है ।
वह है मानव-समाज की
अन्तर से अन्तरतम
विस्तृति चेतना की ।
लेनिन ध्वजा है सारे विश्व की मेहनतकश जनता की
लेनिन ! लेनिन ! पुकारती है मेरी लेखनी
जब चाहे जितनी बार—

तृप्त नहीं होता, छू नहीं पाता, मैं
कभी भी देशांश रेखा उसकी ।
लेकिन हठात् दिखाई देता है वह जो
अकारण ही फिर कभी
खेत, और खलिहान, कारख़ानों में
किसान और श्रमिक जब
कभी मुक़ाबला करते हैं
स्थायी स्वार्थपुञ्ज के किसी चमचमाते हथियार से

रात्रि के अन्तिम प्रहर की एक आवाज़
शहर की तलहटी के किनारे
जङ्गलों और पहाड़ों पर
किसानों के जयघोष में ।

किसान स्त्रियों की भौंहों पर
वह काजल की रेखा तो साँवले बादल के इन्तज़ार में है।
लेनिन, लेनिन वह एक सरणी है,
वह एक पथ की संज्ञा है,
अतीत के सम्पूर्ण मानचित्र पर
वह एक नया पहलू
मनुष्य की नई सीमा !
वह जिसने लिखे हैं सारी उम्मीदों के नवीनतम शीर्षक।
लेनिन हमारा साथी है
लेनिन जो हमारे जीवन की ज्योति है,
हटाकर भय और वश्यता
नये मूल्यों की ध्वजा
आज वह हर हाथ में सौंपकर
दूर करता है सारी ग़लतफ़हमियाँ।

आज लेनिन के नाम से
नई धड़कनें उठने लगती हैं सुदूर वियतनाम में
सुदूर भारत में आज भी वह चमक रहा है
हर शहर-गाँव में
लाल तारे की तरह ही वह जल रहा है
अफ्रीका के घने जङ्गलों में।
लाखों मील लाँघकर वह जल रहा है
मलयद्वीप के आकाश में।
उसी प्रगति के अग्रदूत को आज मैं स्मरण करता हूँ
बुलाता हूँ ले उसका नाम
उसी के नाम से जागता है कोरापुट, पुरी और गंजाम
वह तो सुबह का स्वर है।
लेनिन ! लेनिन ! पुकारती है मेरी लेखनी
जब चाहे जितनी बार
तृप्ति नहीं होती, फिर भी मैं पुकारता हूँ,
हर युग में उसे बार-बार।



उसके सारे 'नहीं' में था एक 'हाँ'

उसके सारे नहीं में था एक हाँ,
—उस सफ़ेद हंस-सा
चहलाकर तालाब का सारा पानी जो
खेल रहा था डूब-डूब कर
तैर-तैर कर।

कठफोड़वा की चोंच की लाली-सा
उसकी लाल पान से होंठों की फाँक में
छिपी थीं कई बातें, शब्दों का चिल्लर
चपड़े से बन्द लिफ़ाफ़ों की
ताक-सा किसी बैंक में!

यदि उसने 'नहीं' कहा
तो वह एक नदी है,
और 'हाँ' उसके किनारों की सीढ़ियाँ।

सूर्पणखा-क्षण के नाक-कान काट
उड़ जाता है तोता फूलों को झाड़
पाटली पुष्प के वृक्ष से।
क्या नहीं है वह केवल कुहासा ??

उसके अनगिनत नहीं, असंख्य नेति में
थी एक इति की सूचना।
विद्यमान नदी की धारा में लगाने को
सुनसान ऊर्मि का चिह्न
फूलों की चेतना।

उसके सारे 'नहीं' में था एक हाँ,
उस सफ़ेद हंस-सा—

चहलाकर तालाब का सारा पानी जो
खेल रहा था डूब-डूब कर
तैर-तैर कर।
बिखेरकर लहरें।

•

या देवी

मेरी वह हत्या करती है पलक-दर-पलक,
देवदारु के जङ्गलों में, समुद्र के किनारे।
मेरा वह ख़ून करती है नाटक के अन्तिम अङ्क में।
मेरे रक्त के तन्तु-तन्तु में
एक महाप्रलय का चित्र बुन जाता है
मेरी वह हत्या करती है पहर-दर-पहर
यहाँ अथवा उजली क़ब्र में।

मुझे वह धकेल देती है मृत्यु के पाताल में
खींच लाती है आँखों की चोंच से,
मेरा ख़ून करती है मुस्कराहट की छोर से।
मेरे केन्द्र में, (अथवा एक) सुनसान,
परित्यक्त दुर्ग में।

मैं जीवित भी हो जाता हूँ, उसी के प्रेम में पड़कर
मेरी शुम्भ-निशुम्भ सत्ता उसी का सुमिरन करती है।
इसलिए वह देवी है, हत्या की रस्सी से
जो बाँध सकती है मरे हुए को, मृत्यु और प्रेम को।
प्रेम ही तो मृत्यु है, उसके अन्तिम चरण में
पाना और देना पूरा होता है आपसी लय से।

मुझसे वह प्रेम करती है हत्या की दृष्टि से,
हत्या करती है प्रेम के कक्ष में

गुप्त सीढ़ी पर अथवा विस्मृत मैदान में।
वह तो देवी है, उपासना के छल से
मुझे वास्तव में आत्मसात् करती है,
पलक-दर-पलक।
नाटक के प्रत्येक अङ्क में।



जन्माष्टमी—1971

जो गया सो गया।
लौटने का पथ भिन्न है
क्योंकि नहीं है वह एक लीक पर चलना।
नहीं है चूँकि उसका मुक़ाबला।

जो गया, काश, वह लौट आता !
किन्तु लौटने का पथ और आने का पथ एक-सा नहीं है।
बीच में समय जो है।
गढ़ता अनेक रूपान्तर, नए-नए होने का विस्मय।

यदि आज कोई जादूगर
तुम्हें जीवन-दान दे
एक मृग कर्ण से तुम्हारे दोनों पैर
हठात् पुनः पा जाएँ गति का आनन्द,
तो क्या तुम लौट आओगे, जहाँ से
उस दिन ग़ायब हो गये थे !
असम्भव !

समय ऐसा नहीं करने देगा।
ठक्-ठक् काँपते तुम्हारे रथ के दोनों अश्व
पथ पर लुढ़क जाते होकर बेबस।
और तुम्हारा विजय-स्तम्भ
तुम्हें पहचान नहीं पाता।
और तुम्हारी वनमाला, मयूर-चन्द्रिका
समय की धूप से मुरझा जाते।
तुम्हारी आँखें
देख नहीं पातीं कई अनदेखे चित्रों में।

कई सूत्र अबूझे, अनजान रह जाते।
तुम्हारा सुदर्शन चक्र
नहीं पाता अनगिनत ठिकाने
अनजान शत्रुओं के।

क्योंकि आज शत्रु नहीं है सामने।
वह है सत्ता के प्रत्येक केन्द्र में
अदृश्य चौराहों पर।
गाण्डीव बदल चुका है एक थैली में।
और तुम्हारा जरासन्ध
देखो-देखो, हँसता है किसके बैङ्क-खाते में।
(ख़ज़ाने की चौखट को दहला किस तरह)

और वृषस्कन्ध
वीरगणा आज परास्त हैं।

शाल की भुजा की जगह अब चाहिए बटन
दबाने को सिर्फ़
एक दुबला-पुतला हाथ।
और एक कम्प्यूटर-दिमाग़।
और थोड़ी विद्या, बुद्धि, ज्ञान—
थोड़ी आदत।
साथ ही थोड़ी रसिकता, जो कि बिल्कुल शुष्क न हो
आर्द्र कर सकती हो हृदय, मस्तिष्क।
(फ़ुरसत के क्षणों में)
तुम्हारे वृन्दावन-सा नहीं चाहिए
इतना बड़ा रस का उद्यान।
हम लोग अच्छी तरह हैं।
ठीक हैं अपनी जगह।
तुम स्वर्ग से देखते होगे
हम लोग हँसते हैं किस तरह
रोने के बदले
और हमारे 'हाँ' किस तरह 'नहीं' हैं

निरर्थक और रूक्ष
'नहीं' भी कभी-कभी होता है एक
'हाँ' का कोरस !

हम सब मज़े में हैं !
तुम यदि हमारी तरह होकर
नहीं आ सकते तो न आना ही बेहतर है।
क्योंकि लौटने का पथ नहीं है आने के पथ-सा।
जो अक्रूर हाँक ले गया था तुम्हारा रथ
वह भी लौटने की राह नहीं पहचानता।
क्योंकि लौटने का पथ और आने का पथ नहीं है एक-सा।



बादल

तुम्हारे सत्ता-शिखर पर अप्रैल के नवनील बादल ।
तुम्हारे भयातुर मन में अचानक आंधी का उद्वेग ।
लगता है, एक ही प्रवाह है,
बैशाख की चिलचिलाती धूप,
सावन की सांवली बरसात ।
दोनों एक हैं, साथ ही दोनों अलग-अलग आवेग हैं ।
समान गति की धारा हैं ।
एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु,
एक चोटी से दूसरी चोटी तक ।

मैं एक सांवली सत्ता हूँ,
बनता हूँ बादल, या निर्जन मैदान,
मैं एक विच्छिन्न सत्ता हूँ
अच्छा लगता है चिरदिन फैलना
तुम्हारी सत्ता को चारों ओर से घेर कर ।
सभी शरीरों को ले अशरीरों की सीमा लांघ ।
मैं ध्रुपद, घड़ी का नीला केन्द्र
यायावर, साथ ही चिर स्थिर ।
उसी श्वेत अश्व का सवार
नए देश की ओर जो दौड़ा जा रहा है
किस अन्तिम सीमान्त के नव अनुराग से ।

पीछे से टेरता एकाकी प्रहर
अनन्त आकाश भरकर सुनता हूँ ख़ुद अपना
विकल्प और विपरीत स्वर ।
कान लगा कर सुनने को अपना ही पद-चाप,
विषय के तोरण की ओर, अथवा कैसा क्रूर पद-चाप
आदिम भय का ।

पड़ी रहती है मेरी शून्यता।
समग्र समुद्र—मेरी तृष्णा, मेरा यौवन
जो मेरी मूल आदिमाता है,
बिल्कुल अपना।
जो मुझे खो सकता है दूसरे में,
लौटने का रास्ता नहीं माँगता।
मेरा अन्त मेरा ही प्रारम्भ है।
लगता है, यही मेरे सूर्यास्त का स्तम्भ है।

होगा-होगा कल का तोरण उदित।
और श्रेष्ठ जय का मेहराब
जिसके लिए मैं रतजगा करता हूँ।
मैं एक साँवला बादल हूँ,
छू जाता है जो
तुम्हारी सत्ता के गिरि-शृङ्गों में।



नेपथ्य

तुम्हारा नेपथ्यचारी
घूमता हुआ तुम्हें ही ढूंढ़ता है
सुबह के क्षितिज की ओर।
फिर धूसर धुन्ध से घिरे
उत्सव-प्राङ्गण में,
जहाँ तुम्हारे हाथ की आरती की स्वर्णथाली में
एक बूंद शुभ्र अश्रु-सी
तुम शोभित होती हो।
अपरूप करुण रोशनी में।

क्या तुम उस सुबह की उगती कली हो
नए सूर्य के लिए ली हुई शपथ हो,
(जाग-जगाकर सारी रात ?)
क्या तुम वह निर्जन सीमा हो
लाँघ वह धूसर देशान्तर-रेखा
अपनी द्विधा की, भय की
चाहा था छूना
समुद्र की अद्भुत गरिमा
और वह एकाकी सवेरा
कोणार्क के सूर्य की तरह जो कूद पड़ता है
समुद्र के नेपथ्य से
सूक्ष्म कला से भरे शिला-मन्दिर में,
जैसे कोई कोमल बछिया !
ढूंढ़ता फिरता हूँ मैं निभृतचारी
परदे की रोशनी की ओर
तुम्हें और तुम्हारे ही अभाव में।
फिर दोनों को एक साथ, सुन्दरी !

समुद्र किनारे

समुद्र लगता है मुझे
एक फीके फ़ोटोग्राफ़-सा
घनी शून्यता के बीच
देवदार के जङ्गल की धूप में भीगा।
और उसकी चमचमाती रेत
रेत सिर्फ़ रेत,
जो मुंह में डाली नहीं जाती,
जो दाँतों से तोड़ी नहीं जाती
फेंक सकते हो मैदान में दूब की शिखा-सी
थू-थू कर।

उसके शरीर का फॉसफॅरस
और जो कुछ नमकीन है—
शायद जम जाता है मेरे शरीर के
मासूम उत्ताप में।
मैं यह नहीं जान पाता।
फिर भी मैं लहरें गिनता हुआ
पहचानने की कोशिश करता हूँ उसे।
और उसकी नमकीन अँगुली
अपनी मुट्ठी में दबाए
चकनाचूर कर फेंक देता हूँ रेत पर एक साथ।
किसी रेत पर लगी रहती है कहीं-कहीं
महावर की लकीर,
तो कहीं माथे का सिन्दूर।

जहाँ सारे शब्द झड़ने लगते हैं
लाल होंठों तले
टाइप किए शब्दों की तरह
लाल रिबन में,
सफ़ेद-सफ़ेद काग़ज़ पर।

जहाँ नीली रात गाढ़ी नीली होती है।
जो हरा नहीं है, क्रमशः हरा हो जाता है।
श्वेत होता है शुभ्र।
काला काला।
एवं लाल के लिए ज़रूरत होती है
एक सूर्यास्त की।
जो अरुणोदय का एक अन्य पहलू है,
और अनेक यादों का भादों।
समुद्र लगता है मुझे
एक फीके फ़ोटोग्राफ़-सा
देवदार की धूप को लाँघ
सूर्य अस्त होता है।

•

मनुष्य का चेहरा

पृथ्वी और अधिक श्यामल कर
तुम फिर एक बार कहो—
सारा भूगोल तो उसी
आदमी का चेहरा है ।
उसी आदमी का चेहरा है !

यहाँ गङ्गोत्री के किनारे
शालिग्राम बटोरते वक़्त
देखा था जिसे मैंने सूर्य-किरण से धुली
उज्ज्वल सुबह ।
वही चेहरा खिल उठता है वोल्गा के जल में
वल्गा-मृग के पीछे
दौड़ते वक़्त तो बल्लम हाथ में
खेत, जङ्गल, घाटियों के रास्ते
बर्फ़ीली सीढ़ियों पर
उसी एक आदमी का चेहरा है
पूरी पृथ्वी पर ।
शिल्प-सा समुन्नत, स्वच्छ ।

खिल उठती है चेतना में
एक ऊँची तस्वीर,
आदमी की तस्वीर,
जहाँ कई धाराएँ
होती हैं उजाले की सत्ता
एक महासागर-प्रवाह ।
कभी वह आश्चर्य-भरी हँसी से फट पड़ता है ।

तो कभी वह बनता है असह्य
शोक का चेहरा।
बनता है ख़ून, बनता है वह आँसू।
उसी एक आदमी का चेहरा।

उसी एक आदमी की आवाज़
आश्चर्य-भरे उज्ज्वल शब्दों से
करता है मुझे वह हर पल अस्थिर।
इसीलिए कान लगाए रहता हूँ।
हो वह आशा का ताज,
अथवा कोई दुःखभरी आवाज़
भयङ्कर यन्त्रणा की।
मैं उसकी प्रतीक्षा करता हूँ
जिस तरह शाम की अज़ान की
प्रतीक्षा करता है
उस दिन का शेष मुसाफ़िर।

यहाँ इस मनुष्य के प्रवाह में
अनेक में एक के संकेत से
कण्ठ ढूंढ़ता है एक और कण्ठ।
स्वर ढूंढ़ता है समस्वर,
हाथ ढूंढ़ता है एक और हाथ।
समान दुःख-सुख से उत्तप्त,
और बलवान
आदमी का स्पर्श।
हिमाद्रि का शिखर लाँघ
एक-दूसरे को यातना देते
दो बढ़े हुए हाथ।
एक रूस, दूसरा यह भारतवर्ष।
एक दुःख दोनों के दिल को
बींधता है बरछे की तरह आकर।
एक ही क्रोध जलाता है दोनों को।

एक ही आशा, जिसका नाम शान्ति है,
एक ही सपना, जिसका नाम क्रान्ति है,
एक ही मार्ग, जिसका नाम मुक्ति है,
मशगूल करता है दोनों को

फिर, एक करुण रागिनी
कहीं सुदूर पूर्व से निशान्तर शीर्ण वॉयलिन
की तरह दोनों को करती मर्माहत।
जो पद्मा, मेघना की लहरों में
वह आती है गङ्गा के वक्ष में।
वोल्गा के प्राण में जो लहरें तोड़ती है।
आदमी की व्यथा की ध्वनि,
छिन्न-भिन्न आदमी का चेहरा,
ख़ून से लाल उसकी क़ुर्बानी।
(वह मूर्च्छित करुण रागिनी
छिन्न-भिन्न जिस तरह मयूराक्षी की लाल जलवेणी।)
हिमाद्रि के दोनों ओर दो सीने
दुःख से चीरकर।
दोनों हाथ बनने लगती हैं मुट्ठियाँ।
पशुत्व की हिनहिनाहट थमती है
शैतान भागने का रास्ता ढूंढ़ता फिरता है।
स्थिर हो जाता है इतिहास
जो कि चिर 'साक्षी का देवता' है।[1]



1. (तिस्ता, मेघना, मयूराक्षी आदि पश्चिम बंगाल और बंगला देश की नदियों के नाम हैं।)

निर्वाचन

दीवारों से मालूम होता है—
आया है वह महान दिन।
वर्णों की अशुद्धि से भरे
पोस्टरों और इश्तहारों से पट जाएँगे गली-मोहल्ले।
वाक्यों के तूफ़ान से गूँजते हैं जब
शहर, क़स्बे, खेत-खलिहान, मठ, खदान,
खाई और बखरे
पार्क, सिनेमा और श्मशान।
जब अनेक चिह्न, अनेक नामावली
रामानन्दी से घी का दीपक, चर्खा और दुधारू
गाय, सूर्य, तारे, छाता, क़लम, लालटेन।
फूस का घर, हँसुआ और हथौड़ी, तराज़ू, हल,
धान की वाली, मुचुकन्द फूल
सब घोषणा करते हैं आ गए वे दिन।
अहिंसा और सत्य के त्यौहार।
जब समाधि से गांधीजी की हड्डियाँ खोदी जाकर
फिर एक बार साफ़ की जाएँगी
और उनका दर्शन तथा तीन बन्दर
(एक जो आँखें मूँदे रहता है, एक कान, और एक
अधरों को दोनों हथेलियों से दबाए रहता है।)
आया है वह दिन आज भी।
जब प्रेत आते हैं स्वर्ग से
ट्रकों में भरकर।
(मार्क्स-लेनिन, गांधी, हो-ची-मिन्, चे जैसे)
स्कूली बच्चों और ठेकेदारों के स्वरों में।
जब वायदे बन जाते हैं ताड़ के पेड़।

जो था कल 'देखूंगा', 'पूछूंगा', या आनाकानी
आज वह है, "ज़रूर होगा"।

बात नहीं मानती वोल्गा
तोड़ सारे दायरे और वर्ग छूना चाहती है आसमान।
आज वही मौसम, आज वही दिन है
जब भिखारी से भीख मांगी जाती है।
जब पोंछने को ग़रीब का मुंह
इस्त्री किया रूमाल दौड़ता है।
और सभी हिजड़ों के मुँह से
बिना व्यय के जय-जयकार व हर्षध्वनि करवाई जाती है।

शब्द आज पल्लवित हैं, दाढ़ी होते हैं अर्थ,
वाक्य बाँधते हैं पगड़ियाँ, खोंस उसमें कुछ यमक।

अर्द्धविराम, विराम ने इकट्ठी छुट्टी ली है एक माह की,
जिसे देख-सुन
असहाय वानर तीनों
एक वह जिसने आँखें बन्द की थीं, एक ने कान,
होंठ एक और ने,
तीनों एक साथ मिलकर सबके सामने
नंग-नाच शुरू कर देते हैं।
आया है वह दिन
छह महीने के बच्चे-जैसा एकाकी असमय[1]।



1. (किसी मध्यावधि चुनाव के अवसर पर)

प्रश्न

प्रश्न मेरा बनकर रहे एक पूछना ही
मिलता ही नहीं जिसका उत्तर।
रात्रि के मौन-सा ढँक लेता है जो
स्वर-वर्ण नक्षत्रों का।
जिस प्रश्न के नीचे होता है एक और प्रश्न
ढँका हुआ चिर निरुत्तर।

सारे प्रश्न हों मेरी एक नज़र
कहानी की आयु लिये हुए
खड़ी होती है जो आकर जीवन के मोड़ पर
वाक़ई किसी परिकथा-सी।
छिन्न हो सकते हैं सारे सम्पर्क
शब्द, रेखा, लेखा या मुलाक़ातों के

परन्तु जो रह सकता है इन सबसे परे
वह कभी न पाना, जो पाने का
एक अन्य नाम है।
अभाव के बीच जो बिल्कुल अपना है
साथ ही जो एकदम अनाम के बीच
कोई एक विशेष है।



सो जाओ

तुम सो जाओ यहाँ मधु-गन्धी बिछौने पर,
सप्त रात्रि सप्तसेज हो।
एक हो उनमें स्खलित तारों की
रात, अन्य हो दो नक्षत्रों का
आपसी मिलन, असीम घड़ियों में।
एक रात हो उनमें अन्तिम विरति की
क्रमश: लुप्त होती नूपुर-ध्वनि...झंकृत होती
नि:शब्द के तले।

तुम हो जाओ आर्द्र पक्षी मेरे मन का
एकदम सुबह...
तन्द्रा और जागरण के बीच जो बनाता है एक
स्वर्ण सेतु।

तुम सो जाओ यहाँ शब्दों के अरण्य में
कविता और अकविता, बन्धन और अबन्धन,
त्रिगुण और निर्गुण मेरी सत्ता की चट्टानों पर।
सो जाओ, सो जाओ, चिर सम्भावना है
सात परतों वाली रात की सेज पर।



उपस्थिति

इस्पात-सी स्वच्छ नीली स्तब्ध दुपहरी में
मैं मिला उससे पल-भर के लिए,
जब बबूल की छाया में—
झुण्ड बाँधे उड़ते पक्षियों के बीच
खड़े हो, एक हाथ उठाए ऊपर वह
झुकाना चाहती थी टहनी
अपने किंचित् उत्तोलित वक्ष पर।
और उसका चेहरा
लगता था, यूनिवर्सिटी-
जैसा, शान्त और चंचल।
इन्तज़ार कर रही थी वह घण्टी बजने का,
जब एक कक्ष से
निकल अनेक पैर छिप जाएँगे
पुनः कक्षान्तर में,
वह भी शामिल हो जाएगी उनके दल में
जाएगी गृहान्तर में, देगी उपस्थिति।
कहेगी "मैं हूँ", जबकि वह जानती है
वह नहीं है। वह तो एक प्रतिध्वनि बनकर
किसी उज्ज्वल शब्द की
कब की अदृश्य हो चुकी है।



शत्रुओं को

मेरे शत्रुओं के गले की अड़हुल की माला
बन जाय मेरी प्रिया के जूड़े का श्वेत कमल।
मेरे शत्रुओं की आँख का कुंचित विष-भौंह
हो वह चित्रोत्पला के पानी में सीढ़ियाँ
झीनी-झीनी चाँदनी की।

मेरे शत्रुओं का मिथ्याजाल, छन्दबद्ध कुत्सा
हो जाए एक सुन्दर गाँव का नाम—
शोभना या रूप्सा।

मेरे शत्रुओं के विष के लड्डू हों अमृत
प्रसाद हो मेरे लिए, उनकी गुप्त
इशारेबाज़ी के सारे टेढ़े-मेढ़े रास्ते हों
सरल, प्रशस्त, चौड़े राजमार्ग जैसे
उनके आँसू कर दुधारू पल-भर में—
वत्सला गायों को, और उनका ख़ून
मेरे देश को करे शस्य-श्यामला।
मेरे शत्रुओं के गले में अड़हुल की माला लह-लह
ख़ूब हँसने लगती है।



पुनरभिषेक

पुत्र से भीख माँगकर लाया था मैं जो यौवन,
पाया था जिस प्रिया को देवता की कृपा से,
सोचता हूँ, मैं लौटा दूंगा।
ख़ून और मांस के सारे निमन्त्रण
भूल जाऊँगा, नहीं है चूंकि उनमें सत्ता का दंशन।
मेरा यौवन लौट आता है सम्राट् की तरह
हारा हुआ राज्य शत्रुओं के षड्यन्त्र से वापस पाकर।
वह यौवन जीने की अमोघ यन्त्रणा है।
मेरी प्रिया उल्का-सी नीली साड़ी पहने
सुदूर नैऋती से।
चली आती है मेरी सत्ता के विक्षत प्राङ्गण में
हाथ में लिये अग्निफूल-से अनेक पलों की
प्रज्वलित सूची।
और उसके होंठों पर मैं देखता हूँ जलती
उर्वशी की अचंचल भीरु हस्तलिपि,
और उसकी परिभाषा—वह एक नारी है।
वह इस मिट्टी की एक चित्र-प्रतिमा है मानो
चाहती है एक मनुष्य की छुअन।
वह चाहती है खड़ी होना,
मनुष्य के निशान-तले,
भूलकर सारे अन्तराल, फिसलन-भरी दुनिया।
भूलकर घर और संसार की माया,
वह बनेगी मधुमती शाम के जादू से
भर देगी नई यन्त्रणा प्रत्येक झनकार से।

'ययाति उपाख्यान' स्मरण करें।

मेरा यौवन लौट आता है,
यौवन जो एक यन्त्रणा है।
वह एक विष-भरी रात है
जो राह भटक जाता है
अपनी ही रोशनी में।
मेरा यौवन लौट आता है
यौवन के नीले केन्द्र में मेरी
नई धुरी से।



दर्शक

गैलरी में भीड़ नहीं
मैं और मेरा नाटक बैठे हैं
आमने-सामने।

मैं देखता हूँ
शान्त दर्शक मुझे देख रहे हैं
बीच में हमारा अभिनय है,
अनेक पात्र और सूत्रधार
करते हैं जो वाङ्मय मुझे
मेरे नाटक में जो देते हैं रूप

अनेक दृश्य-पट, राजपथ,
उद्यान, मण्डप, रणक्षेत्र
ख़ून-ख़राबा, अनेक कटे लोगों के शरीर
और अन्त में प्रमोद-भवन
जहाँ नर्तकी के साथ नृत्य एकाकार है !

नायक और उसका समय दोनों एक हैं
फिर कुछ देर बाद हो जाते हैं दो
मेरा नाटक और मैं एक है
साथ ही दोनों विच्छिन्न और पृथक् हैं

मैं वहीं प्रतीक्षा करता हूँ किसी घटना की
जो कभी घट सकती है
या जो कभी घटित हो सकती थी।
मैं यहाँ स्रष्टा हूँ
साथ ही असहाय निमित्त व द्रष्टा हूँ
अधिकार है कर्म में भी मेरा
कर्म से भिन्न भी एक सत्ता है

गैलरी में भीड़ नहीं
मैं और मेरा नाटक बैठे हैं
आमने-सामने।
मैं ही दर्शक हूँ
और मैं ही इसका नायक हूँ !



स्मृति

मैंने जब पहली बार उसका आविष्कार किया
वह था एक उदास शस्य-क्षेत्र-सा;
उसके अतीत के अनेक छोटे-छोटे पाप
सुनहरे साँपों की तरह खेल रहे थे,
मार्ग ढूंढ़ते बाँबी से बाहर का।

और उसका पहला उन्मेष
उसका आदिम पाप
चाहता था होना महान स्मृति
समय के आर्द्र पंखों-तले।
और उसके जीने का उन्मुक्त प्रवाह
चाहता था
उन असवर्ण इच्छाओं के बीच
होना एक अग्र गति,
रुपहले पतङ्गे की तरह जो सम्भ्रान्त इच्छा के
इलाक़े में फड़फड़ाते थे पङ्ख
मैं जानता हूँ, वह एक प्रवाह है।
छोटी-छोटी लहरों का जोड़ नहीं,
अथवा कोई तत्पर समूह।
मानो वह एक शिल्पायन है।
समय का मानवीकरण
निर्विशेष समय से परे
एवं घटना से पुनः अघटन,
एक मुक्त गति।
जो स्थिति भी है
और स्मृति भी।

•

जन्म-दिन

एक सौ बीस साल तक कोई क्यों जीए ?
किस गरज़ से ?

विषदन्त दे-देकर सँपेरे को और
गाण्डीव नीचे से उठाने में असमर्थ ?

एक-सौ बीस शरद कौन स्वागत करेगा
साल-दर-साल
झरोखे की खिड़कियाँ खोलते, बन्द करते,
फिर खोल, फिर बन्द कर ?
साल-दर-साल यही लीला, वही गणित लगाना
चल-हट कौन करता रहेगा ?
पाउडर दूध में मिली चाय
फाँकता हूँ दयनीय प्रतिदिन
कुछ-कुछ वियतनामी वीरता के छींटे,
विटामिन हालांकि सञ्चार करते हैं—
और कांच की आलमारी में कोट-पैण्ट पहने
अकृत्रिम विवाह की तस्वीर
सपत्नीक, सस्मित
यद्यपि उसकी स्नायु ताज़ा करती है,
और कई सम्मान-पत्र लटके हैं जिसकी दीवार पर
मिले थे जो ऑफ़िस से स्थानान्तरण के समय
कोरापुट से भद्रक,
कर्पूर की माला के साथ
जो उड़ चुका है ।
ये लोग क्या प्रमाण देंगे ?

उसके बाद वही पहाड़ा—
एक से बीस तक, बीस से एक।
काला गाउन और चौकोर टोपी
सिर पर, बड़ी बेटी लिये हाथों में डिग्री का बण्डल
झाँकती है फ्रेम के भीतर से।
छोटी बेटी का ओड़िसी-नृत्य वाला फ़ोटो
और कुल दीपक बेटे का पुलिस के घेरे में खड़े
मीसा के अन्तर्गत, नौकरी न पाकर,
मढ़ी हुई तस्वीर उसकी लटक रही है
गन्दी दीवार पर
अख़बार से काटी जाकर।
बेटियों की शादी की बोली
कानों से फिर टकराती है (दूल्हों के) नीलामी बाज़ार से।
यह मेरी दुनिया का मूल उपादान
क्या प्रमाणित करता है।

क्या प्रमाण देती हैं मेरी फटी लुंगियाँ
मैली-कुचैली बनियान, दफ़्तर की शर्ट,
साबुन का दुगुना दाम, खाद्य का उससे अधिक,
ज़िन्दगी की क़ीमत कम होती जा रही।

मुझे चाहिए यहाँ सिर्फ़ एक इंच ज़िन्दगी
जो होगी एकमात्र माचिस की तीली,
नहीं चाहिए ढेरों जन्म-दिन।

लगता है सब-कुछ है और कुछ भी नहीं।
नहीं है चूँकि एक अग्नि-कण।
मेरी ठण्डी साँसों से ठण्डा सूर्य
सो जाता है बर्फ़ीली नींद में।
फिर भी गरमी बढ़ती है, ऊष्म प्रवाह से
बिहार में मरते हैं लोग, मरते हैं उत्तर में।
गाँव में आदमी मरता है आत्महत्या कर
खाने के अभाव से।

किन्तु कौन नहीं मरता जीने के लिए
अपने ख़ून से रँगकर कौन नहीं उड़ाता
फटी कमीज़
कोई भी नहीं जानता आख़िर खाद्य है कहाँ
केवल चूहों और बुद्धिमान चींटियों को छोड़
समझते हैं जो इन्सान को बिल्कुल मूर्ख।

मेरी दिनचर्या शुरू होती है सुबह की धूप से
पनीली चाय के कप से
और ख़त्म होती है आधी रात के खोखले सपनों की
चिप्पी लगी रेशमी सेज पर।
जब मुझे ही मुँह चिढ़ाते हैं बिजली के खम्भे
रोमांचित होता है घर के अहाते का कदम्ब
जिसके नीचे से चोरी हो गई थी मेरी साइकिल
फक्क सफ़ेद महीन चाँदनी में।

इस दौरान मेरी उम्र बढ़ती है एक दिन
और घट जाती है एक माह
पुन: बढ़ता हूँ एक और जन्म-दिन की ओर
आगे से आगे जाग्रत प्रहर में।

एक सौ बीस साल तक कौन है जो जीएगा
दया कर ?
जन्म-दिन का अर्थ क्या है ?
जीना या न जीना
या अवर्तमान ?



पता

कहो तो मुझे कौन बताएगा मथुरा का पता,
कहो नगरवासियो
मैं एक ब्रजवासी हूँ, आया हूँ वृन्दावन से
गोकुल जिसका डाकघर है
मथुरा जिसका ज़िला।

सुना है, यहाँ कोई एक राजा थे
श्याम वर्ण के।
वे सोलह सौ कमल
एक साथ खिला सकते थे सहस्र किरणों से।
रचते थे अनेकों आकाश
विचित्र वर्णों के
भिन्न-भिन्न ऋतुओं के, भिन्न-भिन्न स्वरों के
किन्तु नदी थी एक—
अन्तरङ्ग नदी।

मैं एक ब्रजवासी हूँ
गोकुल जिसका डाकघर है
ज़िला जिसका मथुरा,
सदर महकमा।

मैं चाहता हूँ बस एक चीज़ जानना।
मेरी चाह बस यही है—
उड़ती पताका सहित एक घर का नम्बर।
जिसके भीतर कक्ष
कक्ष उसके भीतर।
उसके भीतर......।



सन् 2000

वायलिन-सा मुँह लिये
जब मैं लौटूंगा
अनेक तारों में
सफ़ेद शब्दों को बजाता—
पीतल के स्वरों में
खुद को पहचानना
शायद मुश्किल होगा
मेरे लिए।
क्योंकि मैं ख़ुद बदल जाता हूँ
हर मिनट...
अन्त में क्या होऊँगा, ख़ुद नहीं जानता
जिस तरह उद्देश्यहीन यात्री नहीं जानता कि
किस ट्रेन की सीटी है
रास्ता किस ओर है
और अन्त कहाँ है।

तुम सब जो मुझे पहले से जानते हो
बिताई हैं घुप्प उनींदी रातें
मेरी जाँघों की आग में,
पीतल का कीड़ा!
अणु का घूंघट खोलकर देखोगे
क्या वाक़ई मैं वही वेदवती हूँ
(अथवा आम्रपाली !)

शायद नहीं पाओगे परिचित स्वर
मेरे कण्ठ में...
(स्रग्धा अथवा मालिनी राग में !)

किन्तु मैं आऊँगी निश्चय दुविधा की पुतली
भाप से होती हुई धातु की सीढ़ियों से
उन्मार्ग चिह्नों से
मानवेतर इच्छाओं के आँगन में।
नहीं जानती
तुम सब कहाँ होगे
यहाँ अथवा किसी अन्य ऋतु की चट्टान पर
सारी चींटियाँ
पसरी होंगी हाथी-दाँत की मीनार पर।
सारी चिड़ियाँ
शायद नोंच रही होंगी निरपेक्ष मिट्टी के कङ्काल।
घास
सामुद्रिक मछली के दाँत बनकर
चुभ रही होगी मनुष्य के निरीह पैरों को।
सारी नदियाँ
उस दिन विवस्त्र हो
चाहती होंगी जलना और जलाना
अपनी जङ्घाओं के अङ्गारों से—
पृथ्वी के आदि-अन्त-शेष को।



जन्म-दिन . मृत्यु-दिन

जिस दिन मैंने जन्म लिया
उस दिन सभी बच्चों ने
आकाश की ओर हाथ बढ़ाया, कहा—
वह हमारी तरह होगा
दुर्दान्त जानवरों को पत्थर मारेगा
और खेलेगा उनकी पूंछ पकड़कर
साधु-संन्यासियों को देखकर
डरकर भाग जाएगा, यह सोच
कि कहीं वे पकड़ न लें ।

जिस दिन मेरी मृत्यु होगी
उस दिन प्रबल तूफ़ान से
ठप्प पड़ गए होंगे शहर के सारे यान-वाहन,
बन्द होंगे सारे अख़बार,
कल-कारख़ाने हड़ताल से ।
हड़ताली श्रमिक अपनी कठोर मुट्ठी में
दबोचे होगा मालिक का गला,
चीत्कार कर रहे होंगे सभी
चाहिए बोनस ! चाहिए ओवर-टाइम !

कोई ख़बर नहीं निकलेगी
मेरी मृत्यु की,
कोई जुलूस नहीं
शापग्रस्त नर्सें केवल आंसू बहा रही होंगी
मेरे शव पर ।



पुनश्च

कितना ही क्यों न कहा जाए
कुछ बाक़ी रह जाता है
धक्कम-धक्का करके घुस आता है फिर से।

कितना अनुभव हो तो सीढ़ियाँ गिनी जाती हैं
पहचानी जाती हैं अपने प्रतिबिम्ब में
क्रमशः क्रमशः !

सारे नाम पुकारने के बाद
जो अन्तिम बचता है,
वही प्रथम है।
हालाँकि वह ग़लत पुकार है,
हालाँकि वह ग़लत बादल है,
मुग्ध मैं एक महा-भ्रम।

जो ढूँढ़ता हूँ, सब ग़लत है,
(क्योंकि सब आत्म-परिक्रमा है)
जो जानता हूँ, सब ग़लत है,
(क्योंकि वह पहले से मालूम है)
जो होता है सारे-का-सारा महज़
दूसरे का तर्जुमा होता है।

जितना ज्ञान है, उतना भ्रम है,
क्योंकि वह दूसरे का प्रतीक है,
दूसरे की प्रतिमा है
जो युगों से आज तक
चलता आया है
चढ़ बहु स्मृतियों का वाहन।

जो कुछ मालूम है, सारा समय का ही तो है
कहाँ है निःसमय
चिरन्तन !
यौवन मेरा बीत गया
दीप्त चाय का रंग लगाकर,
कुछ भी तो नहीं छोड़ गया
महाकाल के लिए।
भविष्य पड़ा रहता है, टूटा राजमहल।
प्रबुद्ध विदूषक कहता है—
मूर्ख लोग ही चरित्र हैं।
रक्त के बग़ीचे से पकड़कर ला
मृत तितली
उड़ाता हूँ बड़े मज़े से।

सारी इच्छाओं के मूल में वही 'मैं'
जो समय,
काल की जूठन है,
जबकि उसी को केन्द्रित कर
कितनी तलाश,
और कितनी नाटक विद्या है !
जो रचा ही गया है
दूसरे के प्रतीक में।

बिस्तर पर औंधे लेटकर
सुनता हूँ मैं अपनी ही धड़कन,
नीलाम की बोली जैसे शब्द,
एक सौ एक…एक सौ दो…

हाय रे मेरा विगत यौवन !



अंगारे

(छबिरानी के बलात्कार और हत्या पर)

किस अङ्गारे से मैं लिखूंगा वह बात,
किन अक्षरों में ?
भय से काँपती है वर्णमाला,
जानता हूँ जितनी भाषाएँ
सब पीछे खिसक रही हैं,
शब्द छिप जाते हैं अभेद्य ओट में।
शब्द भी तो पाप है
क्योंकि वह शून्य का विकार है,
तन्मय से हो वाङ्मय
फिर भी उस पाप में भले ही होऊँगा भागी
होऊँगा वाक्मय
होऊँ भले ही श्रुति का दास।

भगवन्, मुझे किस अपराध के कारण
बनाया था कवि ?
इस ग्रह में, एक दिन भी तो शान्ति नहीं मिली
नरक ही नरक है !
घूमा हूं मैं फ़रार सैनिक-सा
इस छोर से उस छोर पूरी पृथ्वी पर, कई बार
हर जगह सुनी है
सिर्फ़ पशुओं की हुङ्कार।
यूरोप के सारे घेट्टो[1] से कम नहीं
यह मौत,
इसे देख पीछे खिसक जाती है बाढ़

---

1. नाज़ियों द्वारा संचालित सामूहिक जनहत्या-शिविर।

जिसने की हैं अनेक जनहत्याएँ कुछ दिन पहले,
उसे पढ़कर सिर झुका लेती हैं नसें
जिन्होंने हर रोज, अनेक मृत्युओं से
किया है मुक़ाबा,
जैसे कि कुछ हुआ ही न हो।

निन्दा भले ही रसशास्त्र करे मेरी
साम्प्रतिक भले ही कहते रहें निन्दक तत्त्व,
फिर भी नहीं जानता, उसका वर्णन कैसे करूँ !
हालाँकि जानता हूँ, क्या कहता है मेरा हृदय।
लेकिन मेरी लेखनी तो मानती है पराजय,
लिखी हैं मैंने अनेक मृत्युओं और शहीदों की कथाएँ
आज किन्तु तटस्थ, भयभीत है मेरी आत्मा।

बाग़पत से इस बिलुआखाई तक
नदी की रेत करती है जिसे चिर कलङ्कित,
मानो वह एक प्रवाह है,
इस मिश्रित समाज के
सीने के घाव से निकली मवाद की धार को
सोचता हूँ, अपनी तरुणाई में उँडेले ख़ून
प्रौढ़त्व की सारी कल्पनाएँ
वास्तव में परास्त हुई हैं, अकारण हुई हैं,
झूठा है गणतन्त्र !
जीवन जहाँ पण्य है और मनुष्य पण
दुर्नीति, व्यभिचार और हत्याओं के सिवाय
जीवित रहना जहाँ विडम्बना है।

अस्तित्व के विस्फोट, व्यक्तित्व के चरम सङ्घर्ष में
सारे मूल्य जहाँ बच रहते हैं
पाप डोलता है राजपथ में आवरण ओढ़
भ्रष्टाचार का नाम राजनीति है।
देख तो चुका हूँ, समाजवाद में
व्यक्ति का स्वार्थ जहाँ निहित है

जन-कल्याण में
सारे संकोचों के बावजूद पूरी सुरक्षा।
नहीं जहाँ व्यक्ति-पूंजी, और न तो
भ्रष्टाचार है,
जहाँ राष्ट्रायत्त टैक्सी-चालिका
तरुणी सुन्दरी घूमती है आधी रात में
टैक्सी लिये स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भय हो,
सुनाई नहीं देता जहाँ बलात्कार, अपहरण,
अथवा हत्या सामान्य कारणों से,
सपना देखता हूँ नए राष्ट्र का
क्या सपना सच होता है ?
सपना भी तो एक
छलना है !



थकान

भूलने को थकान
पानी में डुबोता हूँ पैर,
शरीर में पड़ते हैं कीचड़ के छींटे ।
मेंढकों के चीत्कार से
कान फटे जाते हैं ।

चलना है काफ़ी दूर,
पार कर एक-एक मृत्यु
जो, मृत्यु, विवर्तन की
एक उद्भावना है
पण्डितों के मतानुसार ।
फिर भी जिसके हाथों
छुटकारा नहीं
नश्वर शरीर को ।

कहाँ है सुरक्षित स्थान
वाहर या भीतर ?
जहाँ मृत्यु परिचित अरण्य का
साँवला अहेरी है ।



नींद

मैं सो गया था
उठकर देखा
महाभारत युद्ध समाप्त हो चुका है।
कौन कहाँ गए
कुछ पता नहीं
महा-महा योद्धा लुढ़के हुए थे
भूरिश्रवा भी मारा गया
तत्पर होते-होते
माँ के पेट का अन्तिम भ्रूण तक
जल गया कुश के बाण से।
ख़ून की नदी
एकाएक बारिश से धुल गई।

घास उग आई
कुरुक्षेत्र के मैदान में
अब वहाँ हो रहे हैं एशियाड के खेल

मैं सो गया था।
उसके बाद कितना-कुछ घटित हो गया।
मुग़ल आए, पुर्तगाली आए,
अंग्रेज़,
मङ्गल पाण्डे, तात्या टोपे,
सभी उड़ गए रुई की तरह
साइमन-कमीशन आया
आए कई मिशन
भरतखण्ड का अलग हो गया एक खण्ड।
किन्तु हम आज़ाद हुए!

न जाने हम क्या-कुछ हुए
सब जगह सुनाई दिया—
स्वाधीन, स्वाधीन, स्वाधीन !
इतनी स्वाधीनता कि हम
पकड़कर रख नहीं पाए।
पानी बह जाता है फूटे घड़े से।

अब और नींद नहीं आती
खाऊँगा नींद की गोली
मैं गाता हूँ नींद तोड़ने के गीत।



अनजान

सारे जाने अनजाने हो जाते हैं।
जो था, जो है, दोनों भिन्न हैं,
जान नहीं पड़ता।
स्वयं भी तो मैं निज को पहचान नहीं पाता
राह भटक जाता हूँ
गए थे जिस राह से
बादलों की नर्म छाँव में से होकर
वह बदल गयी है।
जिस होटल में थे
वह आज नामहीन है,
इस रास्ते का मानचित्र स्मृति में नहीं मिलता।
मेरा परिचय मुझसे भी हो रहा विवर्ण
दिन-पर-दिन।

सुबह मैं सूर्य-नमस्कार करते समय
सोचता हूँ—सब ठीक है
हालाँकि बदल चुका है
बहुत कुछ निर्दिष्ट समय से।
लगता है—ठीक है पृथ्वी का तल
हालाँकि वह नहीं है वैसा
था जैसा घड़ी-भर पहले।

जो प्राचीन और जड़ है, वह कुछ भी तो नहीं देखता
पड़ा रहता है
दुन्दुभि की हड्डी की तरह।
बदलता हूँ मैं।
बदलता है जीवन।

ब्रह्माण्ड में, भूगोल में
ढूंढ़ता हूँ मैं अपना मूलाधार।
स्मृतिहीन समय में, किस प्राक्-काल में
ढूंढ़ता हूँ मैं अपने लिए ?



चित्रकल्प

चित्रकल्प में छू लेता हूँ उसे ।
अपने मन के सीमान्त पाताल में
खेलती है जब वह स्थिर समय में ।
मैं देखता हूँ—जो मैंने देखा नहीं था
मैं सुनता हूँ—जो मैंने सुना नहीं था
शब्दहीन अदृश्य नूपुरों में ।
जो था, होता है वह उससे कुछ भिन्न,
जो होता है वह नामहीन,
देहहीन है विकल्प के रूप में ।
मानो वह कुछ-कुछ बदलता है हर रूपान्तर में ।
असमय खोई स्मृति में ।

क्या वह सिर्फ़ स्मृति की नायिका है ।
या किसी दबे मन्दिर की शालभञ्जिका ।
छिपी थी इतने दिनों तक घने अँधेरे में
ढूँढ़ा है मैंने उसे काफ़ी दिनों तक
घर में और बाहर !

खिड़की के दोनों परदे उठा
देवदार के जङ्गलों में, चाँदनी रातों में
लेकिन वह तो कहीं थी ही नहीं ।
नहीं थी मन या आँगन में
थी कभी अकस्मात् स्मृति की नायिका
मेरे मन के अतल पाताल में,
कुछ जाने, कुछ अनजाने में ।



साम्राज्य

समस्त साम्राज्य मेरा एक बल्मिक है
सुप्रशस्त क्षति का मण्डप,
ढेरों ग्लानि और विद्वेष का स्तूप
बक़ाया राजस्व-सा बोझ मेरे कन्धों पर।
फिर भी उसके लिए
कितने षड्यन्त्र, कितने चक्रव्यूह हैं !

अदृश्य शत्रुओं को
कैसे समझूं, जानूं ?
कहो, कैसे पहचानूं, भ्राताओं का बदन ?
भला किसका क्या मत है ?
मेरा अजातशत्रु मन होता है प्रवञ्चित
ख़ुद होता है अपना ख़तरा।
शुभ्र स्मित ओट में
किस तरह नापूंगा विषदन्त
काल-सर्पों का
बनाए हैं जिन्होंने उसी बल्मिक में घर।

हृत-राज्य, मृतवत्स, मैं अन्तिम सम्राट् हूं।
फिर भी मैं देखता रहता हूं, दृष्टिहीन,
वह सावित्री-पथ
मंगल ऊषा-सी वह उतर आती है
आकाश के तोरण से
शुचिमती सौभाग्यशालिनी
पुत्रवधू के समान।



यदि एक चींटी ही होती...

(इन्दिरा की याद में)

शान्ति की कबूतरी की तरह
उड़ा करती थी इधर-उधर,
आकाश में शुभ्रता बिखेरे,
हठात् कहाँ चली गई ?
तुम्हारे परों की आवाज़ नहीं आती।
पड़ी थी हर जगह तुम्हारे परों की छाया
जल में, स्थल में, पहाड़ पर, शून्य में
इस ग्रह के कोने-कोने में।

हो चाहे वह गङ्गा या कावेरी
अथवा कपोताक्षी
वाङ्ला की मायाविनी नदी,
देवतात्मा हिमालय
अथवा आल्प्स
पूरी तीसरी दुनिया
थी सुरक्षित तुम्हारा नाम लेकर...
ऐ शान्ति की कबूतरी !
तुम किया करती थीं अपना काम
स्वच्छन्द और निर्भय हो,
मनुष्य पर था
तुम्हें अगाध विश्वास,
कहीं से आकर एक आततायी
छुपा था, करने को तुम्हारा
काम तमाम।

हाय ! यदि एक चींटी ही होती
एक साधारण-सी चींटी,

रूठ करके काट लेती
पैर में उसके
हो जाता लक्ष्यहीन शिकारी
बच जाता क्रौञ्च पक्षी।
बच जाते सारे इंसान
एक बड़े विपर्यय के हाथों से,
किन्तु हाय !
वह साधारण-सी चींटी ही नहीं है
इसीलिए हुई है अश्रुपूर्ण यह सम्पूर्ण धरती।



मुझसे मैं बड़ा

मुझसे मैं बड़ा हूँ
यह बात समझते हुए भी
समझ नहीं पाता क्यों ?
गढ़ता हूँ बैठे-बैठे मैं जितनी घनिष्ठता
अपने लिए, सब पड़ जाते हैं छोटे।

पैर की बेड़ियाँ पैरों में नहीं घुसतीं,
हाथ खुले रहते हैं,
बाँधो चाहे जितने नागपाश
लेखनी किसी का वश नहीं स्वीकारती।
रहना चाहती है सदा स्वतन्त्र, उन्मुक्त।

जितने भी आभूषण गढ़ूं मैं
अपने लिए
बाँहों के लिए कङ्कन
कानों के लिए कुण्डल
सब अपने नाप से छोटे हो जाते हैं।
क्या वाक़ई मैं इतना विशाल हूँ ?
क्या मैं नहीं बना हूँ
अधिकारी से लेकर जन-नेता तक
सौदागर, गृहस्वामी, एजेण्ट, व्यापारी
किन्तु मुझे कुछ भी नहीं सुहाया।

सब-कुछ होते हुए भी लगता है कुछ नहीं,
ग़ैर समझती है सारी दुनिया।
लगता है, मानो मैं परदेशी हूँ
अपने ही देश में।

लगता है, सारा कुछ जैसे एक ऑक्टोपस है,
साँप की कुण्डली है,
और मैं छटपटाता हूँ।
इधर-उधर
सोचता हूँ मेरा, केन्द्र-बिन्दु
जैसे वाक़ई मेरे बाहर है
पड़ जाता हूँ सबसे अलग-थलग,
बिलकुल अकेला।
कभी-कभी करता हूँ फिर अपना प्रचार
ढँकने को अपनी शून्यता,
हालाँकि मैं वाक़ई दिवालिया हूँ।
फिर भी ज़ाहिर करता हूँ ख़ुद को कुछ-कुछ
मानो मैं यायावर हूँ।
मैं कैसे बनूँ माप के बराबर ?
कुछ और छोटा,
करूँ कौन-सा योगाभ्यास,
यज्ञ, होम,
या अतीन्द्रिय ध्यान,
व्रत, जप तप ?

लेकिन हाय ! इससे मैं कैसे स्वाधीन रह सकूँगा ?
बना वही प्रचलित गणित
कैसे होऊँगा मैं ख़ुद से मुक्त ?
बल्कि अधिक अनुशासित हो जाऊँगा।
दूसरे के प्रतीक में पड़कर।
पुनरावृत्ति का मार्ग कैसे होगा स्वधर्म ?
प्रतिध्वनि कैसे होगी मूर्धन्य स्वर मेरा ?
लगता है, जैसे मैं अपना अङ्गीकार हूँ
काटने को सारी बेड़ियाँ
मेरे अन्दर वह अन्तर्निहित है।
यही तो नहीं करवाता मुझे
प्रचलित प्रथा का किङ्कर ?

मैं बनता हूँ अपनी सुबह—अपनी शुरुआत।
मैं बनता हूँ अपना निशाना।
विजय का, जो विजय स्वतः आती है।
इसलिए जोड़-तोड़, युद्ध निरर्थक है।



शववाहक का गाना

मैं अपना शव
अपने ही कन्धे पर लादे
कर रहा हूँ विश्व-भ्रमण।
बनारस, गया, गङ्गा
मक्का, मदीना
और यरूशलम
जहाँ तीन वृक्ष
(पाप और पुण्य के)
पल्लवित हैं।
लेकिन मोक्ष कहाँ है ?
कौन है मुक्तिदाता ?
कुछ भी तो समझ नहीं पाता।
देखता हूँ, महज पुरोहितों के दल
कहते हैं यह करो, वह करो,
वह मत करो।
सभी मेरे अपने धर्म के विपरीत हैं।

मेरा जो मर गया—
जीने का जिसे अधिकार नहीं,
वह है लुप्त समय की पीक-दानी के नीचे,
जो जीवित है, वह चिर सजीव है,
आज और आगामी कल की
वह एक शुरुआत, एक बुनियाद है,
वह क्षय नहीं होता
क्योंकि वह काल से परे है
प्रगति में वही सहायक है।
जो अचल है, वही बन्धन है।

बाँधे रखता है मुझे एक ही जगह,
जो उदास और केन्द्र-च्युत है।
भला बताओ तो,
कैसे जीएगी
समय की वह अपहृत
श्वेत, नपुंसक कुलीनता ?
जिसके लिए मृत्यु स्वयंसिद्ध है
क्योंकि वह बन्धन है।
मेरी मुक्ति मेरे हाथ में है
वह चिर गतिशील है, अचल, स्थिर नहीं
जीवन के महास्रोत के साथ
वह एक पवित्र सङ्गम है।

मेरा शव मेरे कन्धे पर है
वह काल का अवशेष है :
वह क्षयशील है
क्योंकि वह आगे नहीं बढ़ता
पड़ा रहता है बहुत पीछे
गतायु जंजाल।

ख़ुद से पूछता हूँ, मैं कौन हूँ ?
मैं तो एक हूँ, और मैं ही अनेक हूँ
मुझमें छिपी हैं अनेक
महास्मृतियाँ
जो महाजीवन के काल से परे हैं
पूरी आयु बटोरकर।
मैं तो कालजयी हूँ।
अपने शव को फेंक देता हूँ अतीत के गर्भ में,
सामने के महास्रोत में मैं बह जाता हूँ।



प्रश्न

प्रश्न सारे बदल जाते हैं प्रतिप्रश्नों में
उत्तर सहित,
कैसे कहूँ हाँ या ना
जो 'हाँ' है, 'नहीं' है वह दूसरे पल
कैसा भीषण है यह परिवर्तन !
पृष्ठभूमि बदलती है प्रतिपल।
चूंकि मैं हूँ गतिशील
लगता है सारा कुछ गतिपूर्ण, चंचल
जिस तरह देखता रेल-यात्री
दौड़ते पेड़ों को प्रखर गति से
जबकि वास्तव में है वह अटल
और जो अटल है वही बन्धन है।

कैसे कहूँ है, कैसे कहूँ नहीं ?
सबकुछ है ओत-प्रोत जड़ित एक में,
द्वन्द्वमय सत्ता का विकास,
हालाँकि मुझे मालूम है
असत्ता ही मुक्ति का कारण है।

मैं कैसे मुक्त होऊँगा स्थान और काल से
कैसे पाऊँगा मुक्ति असंख्य बन्धनों से ?
होऊँगा द्वन्द्वहीन,
इस गन्दे पंकिल आवर्त्त में
कैसे बनूंगा मैं अपना ही प्रत्यय
कैसे काटूंगा मैं सारे द्वन्द्व, भय ?
हालाँकि मैं जानता हूँ
मैं ख़ुद अपना हथियार हूँ

काट सकता है जो
अगणित बन्धन और अनन्त जंजाल ।

कैसे कहूं अच्छा, कैसे कहूँ बुरा !
जो अच्छा है, वह बुरा है दूसरे पल !
इतिहास फेंक देता है उसे डस्टबिन में
जूठन की तरह ।
अच्छे का शत्रु तो बुरा नहीं ।
अच्छे का शत्रु ही वह है
जो है उससे अधिक अच्छा ।



पहेली

पहेली जटिल हो जाती है
अँधेरा और घना।
प्रश्न से जनमते हैं प्रश्न
पलटकर पूछे जाते हैं सारे उत्तर।
जो नित्य है, वह अपभ्रंश है।

कहाँ आदि, कहाँ अन्त,
सब अगोचर है।
बीच गाँव में जो मकान है
वही गोचर है।
उस मकान में छप्पर नहीं
आँधी-पानी में
सबकुछ तो उड़ चुका है
बाक़ी भी ख़त्म हो जाएगा।
मैं कहाँ से आया हूँ
मुझे कहाँ जाना है
ख़ुद को भी मैं नहीं पहचान पाता
मैं राही हूँ अद्भुत।
हर पल बदल जाता हूँ
यह बदलना ही मेरा धर्म है।

मैं स्थिर, अचंचल, अटल
क्यों नहीं रहता
सदा के लिए घिरकर कई प्रतीकों से,
जो पूर्वजों की देन थी,
दोहरायेंगे जिसे मेरे वंशधर
उन नामावलियों, पगडण्डियों को

मैं क्यों इस क़दर दोहरा रहा हूँ ?
मैं क्यों बावला हो जाता हूँ इतना
गलियों, चौबारों और नुक्कड़ों में
सीधी राह भूलकर
जो नाक की सीध में है : वापसी में
उदयाचल से अस्ताचल तक—
शून्य से शून्यान्तर तक—
मानचित्र की तरह जो ख़ुद को दिखाता है—
मेरी विशालता जल, स्थल, अन्तरिक्ष
और काल में
मेरा संक्षिप्त सारांश
बरगद के फल ही तरह
जो प्राय: प्रवहमान है
समय की जलराशि के उस पार...
जो मेरा कारण है।
क्या होगा परिचय जानकर
क्या होगा सुस्पष्ट उत्तर देकर
जो कल बदल जाएगा, ग़लत हो जाएगा।
मुझे सत्य नहीं चाहिए, वह महज़ रूपान्तर है
जो कुछ घट रहा है, और जो घटेगा
यह रात बीतने पर, जो आज की चिन्ता से परे है



साप्ताहिकी

बुद्धिजीवी सारा सप्ताह
निःसङ्गबोध की विलासिता।
"आत्मरति, सम्मोहन में"
कट गए दिन।
शून्य उपवन से लाकर फूल
सजाया ख़ुद को मैंने,
आकाश में बनाया महल
(हालाँकि वास्तविक महल इससे
कम मज़बूत है)
क्योंकि यथार्थ तो पुञ्ज-पुञ्ज
वस्तुओं का बुदबुदा है
और जीवन है एक दलदल-भरी झील।
पग-पग पर शङ्का।
वरण कर ली इसीलिए मैंने भी
भूमिका नेति की !

याद आते हैं शैशव के चिह्न...शब्द
छायाच्छन्न स्वप्न...स्मृति...
खाद्य और स्वाद,
जब था अविभक्त
सुबह-सा साफ़।
था किसी मिथकीय राज्य में प्रवासी।
घुल-मिल जाते थे पल में सारे उत्तर।
न था ऐसा मैं कटा हुआ ख़ुद से,
औरों से,
किसी अभिशाप से, स्वयं-निर्वासित !

लौटना होगा एक दिन मुझे
जीवन के कठिन आह्वानों से
मातृ-उत्स में, अपनी भूमि पर,
नेति का विलास छोड़ नैराज्य मण्डल में।

मैं लौट आता हूँ—
किस अतियथार्थ के पास बँधा पड़ा
आज मुक्त हो आया
अपहृत विमान का चालक जैसे
घर लौट आता है बिता बाहर कुछ दिन
ख़ुद के सिवा अन्य किस कारण से।



स्मृति

वहाँ कैसे लौटूंगा
जहाँ से आया था ख़ूब सवेरे
बीच में नदी जो है।
दोनों किनारे घास से घिरे हैं।
आना जितना आसान है
लौटना उतना नहीं,
लगभग असम्भव है।
समय तो लौटता नहीं वापस।
बल्कि यहाँ से देखता हूँ
सबकुछ अच्छा लगता है।
सुबह की पनीली धूप
झिलमिलाती है तालाब के पानी पर
सारी रात काँस के फूल भीगें हैं ओस में।
अनेक परिचित शब्द
बन गए हैं ध्वनि,
हरी लताओं पर
चिड़ियों की चहक
याद आती हैं और किसी की बातें,
करती हैं अनमना।
पलकें भीगने लगती हैं,
दसों अँगुलियों से उन्हें रोक नहीं पाता।
जो था स्मरणीय
अब वह बन गई है स्मृति।

पड़ी रहने दो उस नदी को वहाँ
हरी रेखा-सी

तूलिका को निःस्व कर
दिवालिया हो जाता हूँ मैं
चुकाते-चुकाते उस स्मृति का ऋण,
सारे रङ्गों, सारे सपनों की वलि चढ़ा,
मैं जहाँ पहुँचूं
वहाँ सब कुछ वैसा ही रहे
धूल बन जाने तक।



परिचय-पत्र

अपना परिचय मैं किस तरह दूं,
कोई और भी भला कैसे देगा ?
क्या मैं जानता हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ,
कहाँ जाऊँगा ?

कैसे नापूंगा अपनी नियति
जो फैली है
अनजाने से अनजाने तक।
मैं तो एक यायावर हूँ, चल रहा निरन्तर
वहाँ से वहाँ तक।
मैं नहीं जानता, कहाँ से कहाँ तक
और कब,
देश-काल-पात्र से परे
अपना अतीत, अपना भविष्य
देखने, सुनने, जानने से परे
अवर्तमान में।
मैं हूँ अपना अदृष्ट।

मेरा स्थिति-बिन्दु एक बुलबुला है काल का
एक क्षण, एक पल।
यात्रा मेरी पूर्णविराम-रहित है
मैं ही द्वन्द्व का समाहार हूँ,
ख़ुद के अलावा दूसरे का स्वागत करता हूँ,
पकड़ा जाता हूँ विरोधाभासों में।
मेरा परिचय-पत्र झूलता है एकान्त बरगद पर,
नहीं जिसमें कोई भी अक्षर।



विमान का अवसान

सामने कौन हो तुम, खड़े हो नीली झण्डी लिये ?
खिसक जाते हो, फिर रास्ता रोक लेते हो।
स्थिर वायुमण्डल।
गतिहीन समय।
तुम मरुत हो या व्योम ?
क्या तुम यमराज हो ?
तुम क्यों रास्ता रोक लेते हो ?
समय को बह जाने दो
वायु से कहो, प्रवाहित हो।
शान्त हो महासागर।
कितने देश, कितने प्रदेश, कितनी भाषाएँ और जनपद
हैं यहाँ एकाकार
एक महास्थानीयता में।
कितने स्पन्दन, कितने जीवन
केन्द्रित हैं गाढ़ी नीलिमा के
केन्द्र-बिन्दु में।
महाप्रस्थान का पथ फैल गया है
अज्ञात से अज्ञात तक.........
हर तोरण में देखो उनके नाम
अस्त सूर्य के अक्षरों में।

उन्हें मत अलगाओ
एक-दूसरे से,
रोके रहो, रोके रहो
आकाश के आतिथ्य में।
अनस्तित्व की विलासिता से
उन्हें बचाओ !

आतिशबाज़ी-सा मत छोड़ो खुले आसमान में।

तुम क्यों रास्ता रोक लेते हो नीली झण्डी दिखाकर ?
समय को बह जाने दो
शान्त हों सारे आर्त, सारे भय
दिन-रात-हीन अस्थिति के नील मण्डल में।
देखो, तिथियों की माला से निकलकर
भयार्त क्षण की सीढ़ी लाँघ
किस तरह वे लोग समा रहे हैं महाकाल में
धुएँ की तरह !



लन्दन-प्रवास के दौरान सन् 1985 में 'एयर इंडिया' के एक यात्रीवाहक विमान के ध्वंस होने की खबर सुनकर लिखित।

वर्तमान

मुट्ठी-भर पल समय से मुक्त हो
इधर-उधर फैलाते हैं प्रेत-छायाएँ
बुझने से पहले किस अणु के मुंह बाने से
करुण कीट की तरह अन्धकार में ?

यहाँ टूटा सेतु, वहाँ जली मीनार।
जल रहे देवी-देवता।
अतीत के जलते नूपुर
राख बन रहे हैं।
पैरों के नीचे जलती मिट्टी है
मेरे पैरों से झरते हैं अङ्गारे
लाक्षागृह जलता है धू-धू कर
कौन मरा, कौन बचा, पहचाना नहीं जाता।
हर ओर अपरिचित चेहरों की
हाँ-ना की आवाज़ें—
'नहीं' जहाँ 'हाँ' का प्रत्युत्तर।
इंसान तो दिन-दिन अनजान होता जा रहा
ख़ुद से और औरों से
कहाँ खो जाता है खुद का पता !

ख़ुद के लिए नाहक ही होता है बोझ वह बचे हुए कर-सा
राज्य की सीमा नहीं, चारों ओर झूलते रहे हैं निशान
लेकिन राजा कहाँ? कहाँ गई सेना और सामन्त ?
सिमट आया है सारा भूगोल नाभि-गर्भ में।
राजा और काल अन्तर्लीन हैं,
स्मृति है लुप्त, अभिज्ञान अतल नदी में।
फिर भी हो रहा है युद्ध, और होगा

कोई भी तो कहीं नहीं,
फिर यह युद्ध किसके लिए ?

व्यक्ति यदि काल का बुलबुला है
क्यों हो रहे हैं युद्ध, क्यों होंगे युद्ध
सारी पृथ्वी के ध्वंस होने तक ?
बचे रहने तक अन्तिम चिह्न, जो अन्तिम सम्राट् है,
एक बटन !



जहाँ भी शाम हो

जहाँ भी शाम हो
क्या फ़र्क़ पड़ता है
चन्दनपुर में हो या पाणिकोइली में !
हर जगह मिलेंगे कुछ मुस्काते चेहरे
परिचित या अपरिचित
लालटेन की रोशनी में चमक उठेंगे चिट्ठियों जैसे।

आयेंगे कई लोग स्वागत करने
छाता लिये हाथ में
कहेंगे : "रह जाइए न आज रात यहीं,
काफ़ी दिनों से आये नहीं हमारे गाँव की ओर !

कुछ लजाते हुए कहेगी एक लड़की
चिकोटी काट अपनी सहेली से
'देखा था अक्षरों में
देख लिया आज आँखों से !'
मंजरियों के बोझ से
झुका जा रहा होगा आम का पेड़
जा रही होगी चील उड़कर
दिन-ढले हड़बड़ाकर

भूमि ने मुँह बा दिया है
चैत की भीषण गर्मी से,
होती है बारिश मूसलाधार कभी-कभी
असमय ही
लाल दिखाई देता है किन्तु
वीरान मेले का मैदान
जो था एक माह पहले।

मैं कहाँ रहूँगा, और कैसे रहूँगा ?
गाड़ी का समय होता जा रहा है
ट्रेन दौड़ी चली आएगी पूरे इलाक़े को थर्राती
गेटमैन गेट बन्द कर ऊँघता है नशे में
बड़ी लड़की हिलाती है हरी बत्ती,
बन्द है सारी आवाजाही
फिर भी जाना होगा
यह भूमिका क्यों ?

यह ट्रेन दूर-दराज़ से
दौड़ी चली आ रही है
अनेक तीर्थों से लदी
पाप-पुण्य को, अच्छे को, बुरे को, तोड़-मरोड़ एकाकार कर।
मेरे ख़ून की हर बूंद के
कीटाणुओं को थर्राती
मेरे केन्द्र को प्रतिपल ग्रसित करती
चली आ रही है यह ट्रेन समय से परे
अतीर्थ अँधेरे में।

• •

सची राउतराय की कृतियाँ

अंग्रेज़ी में

द बोटमेन बॉय एंड अदर पोइम्स : हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय द्वारा अंग्रेजी में अनूदित (कलकत्ता, १६४२); द बोटमेन बॉय एंड फोर्टी पोइम्स : हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय तथा बी.सिंह द्वारा अनूदित (मॉडर्न रिव्यु प्रेस, कलकत्ता, १६५५); प्रेसिडेंशल एड्रेस : अखिल भारतीय कवि सम्मेलन, प्रथम सत्र (कलकत्ता, १६८७); द शॉर्ट स्टोरीज ऑफ सची राउतराय : (कलकत्ता, १६७२); उड़ीसा और भारत की कला, साहित्य और पुरातत्त्व पर शोध-पत्र । कविताएँ ।

उड़िया में

काव्य : पाथेय (१६३२); पूर्णिमा (१६३३); पल्ली-श्री (१६४०); रक्त-शिखा (१६३६, प्रतिबन्धित); बाजी राउत (१६३८, ४२); अभिजन (१६३८); पाण्डुलिपि (१६४७); हासान्त (१६४८); भानुमतीर देश (१६४६); स्वागत (१६५८); कविता : १६६२ (केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत); कविता : १६६६; एशियार स्वप्न (१६६६); कविता : १६७१; कविता : १६७४; कविता : १६८३; कविता : १६८५; मायकोव्स्की कवितासंग्रह (१६६५, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार); कविता : १६८६; कविता : १६८७ ।

कहानियाँ और उपन्यास : मसनीर फूल (१६४७); माटीर ताज (१६४७); छई (१६४८); चित्रग्रीव (उपन्यास, १६३५); मन्कई तथा अन्यान्य गल्प (१६८३); नूतन गल्प (१६८७) ।

समालोचना : साहित्य-विचार और मूल्यबोध (१६७२); आधुनिक साहित्य (१६८३) ।

शोधकार्य : साहित्य मूल्यबोध (१६७४; साहित्य में मूल्यों के विकास का अध्ययन), जयदेव, रामायण बनाम महाभारत, उत्तरा फाल्गुनी (आत्मकथा)।

संकलन

सची राउतराय ग्रन्थमाला, भाग-१ (कविता, १६६५); सची राउतराय ग्रन्थमाला, भाग-२ (गद्य, १६७५) ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

सची राउतराय : एक जन-कवि (प्रस्तुति, १६५५); मॉडर्न रिव्यु प्रेस, कलकत्ता-६ द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ में प्रो. हुमायूँ कबीर, डॉ. कालिदास, नाग, डॉ.के.आर. श्रीनिवास आयंगार, डॉ.पी.के. पारीजा, प्रो. विश्वनाथ सत्यनारायण, डॉ. सज्जाद जहीर, हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, आदि प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों के २२ लेखों में राउतराय की कृतियों के समीक्षात्मक मूल्यांकन हैं; सची राउतराय अभिनन्दन ग्रन्थ (रूरकेला, १६८५); सची राउतराय : एक कवि (समीक्षात्मक मूल्यांकन); पद्मश्री राउतराय ('६६) ।



भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक-साहित्य का निर्माण



डॉ. सच्चिदानन्द राउतराय

जन्म– 1916, खुर्दा, उड़ीसा में। स्वाधीनता-संग्राम सहित अनेक आंदोलनों में भाग लेने के कारण कई बार जेल-यात्रा। बी.ए. करने के उपरान्त बीस वर्ष तक कलकत्ते में नौकरी और फिर कटक-वास।

12 वर्ष की आयु से लेखन में प्रवृत्त। प्रथम काव्य-संकलन 'पाथेय' 1932 में प्रकाशित। आधुनिक उड़िया कविता के भगीरथ के रूप में प्रख्यात। कथा-शिल्पी, नाट्यकार एवं साहित्य-मनीषी की हैसियत से भी भारतीय साहित्यकारों में अग्रगण्य।

18 काव्य-संकलन, 4 कहानी-संग्रह, 1 उपन्यास, 1 काव्य-नाटक, साहित्य-समीक्षा की तीन पुस्तकें तथा साहित्यिक मूल्यों पर एक महत्त्वपूर्ण अनुसंधान कार्य प्रकाशित।

पद्मश्री, साहित्य अकादमी पुरस्कार, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, आंध्र विश्वविद्यालय एवं ब्रह्मपुर विश्वविद्यालय द्वारा डॉक्टरेट की मानद उपाधि से सम्मानित। अध्यक्ष, उड़ीसा साहित्य अकादमी। सदस्य, फ़िल्म सैन्सर बोर्ड। विभिन्न देशों में आयोजित साहित्य-संगोष्ठियों में प्रतिनिधित्व। उड़िया के एक साहित्यिक त्रैमासिक का संपादन। उड़िया कला परिषद् का संस्थापन।

और अब वर्ष 1986 के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित।

